महासतियों का जीवन-संदेश

लेखक

गणि श्री रत्नसेनविजयजी म. सा.

महासतियों का जीवन-संदेश

लेखक-संयोजक

भारत वर्षालंकार, परम शासन प्रभावक स्व. पूज्यपाद
आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के
शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि पूज्यपाद
पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के
चरम शिष्यरत्न गोडवाड के गौरव, प्रभावक प्रवचनकार

पू. गणिवर्यश्री रत्नसेनविजयजी म. सा.

93

प्रकाशक

दिव्य संदेश प्रकाशन

1) C/o. सुरेन्द्र जैन © 2684 31 41
4, मेरी विला बिल्डींग, पहला माला, मांजरेकर वाडी,
मथुरादास वसनजी रोड,
अंधेरी (ईस्ट), मुंबई-400 069.

2) C/o. सुरेन्द्र जैन © 2203 45 29
47, कोलभाट लेन, ऑ. नं. 5,
डॉ. एम. बी. वेल्कर स्ट्रीट,
ग्राउन्ड फ्लोर, मुंबई-400 002.

संस्करण : प्रथम
विमोचन : सं. 2059
दि. 6-2-2003, पूना M.S.
मूल्य : 30 रुपये

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 2000 रु.

- क्या आप अपने जीवन को सुसंस्कारों से सुवासित करना चाहते है ?
- क्या आप जैन धर्म के रहस्य - जैन इतिहास - जैन तत्वज्ञान - जैन आचार मार्ग, प्रेरणा दायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते है ?
- तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन बम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। आजीवन सदस्यों को जिन् शासन के अजोड़ प्रभावक स्व. पूज्यपाद आचार्यदेव **श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** के शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद **पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य** श्री एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रभावक प्रवचनकार **पू. गणिवर्यश्री रत्नसेन विजयजी म. सा.** का उपलब्ध हिन्दी साहित्य प्रतिमास प्रकाशित **अर्हद दिव्य** संदेश एवं भविष्य में प्रकाशित हिन्दी साहित्य घर बैठे पहुँचाया जाएगा।

प्राप्ति स्थान :

1. मांगीलाल एच. नागोरी
हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान भंडार
1628, शुक्रवार पेठ, पुणे - 2
© (R) 612 71 31 (O) 447 2401

2. प्रकाश बडोल्ला © 226 30 81
मुरली मार्केट, पहला माला,
20, डी. के. लेन,
बेंगलोर - 560 053. (कर्णाटक)
© (R) 650 9674

3. कांतिलाल मुणत © 34643
106, रामगढ़,
आयुर्वेदिक हॉस्पीटल के पास,
रतलाम - 457 001 (M.P.)

4. चंदन एजेंसी © 205 6821
607, चीरा बाजार, ग्राउंड फ्लोर,
मुंबई - 400 002.
© (R) 206 0674

5. चेतन हसमुखजी मेहता © 814 0706
303-A, पवनकुंज, तीसरा माला,
नाकोडा हॉस्पीटल के पास,
देवचंदनगर, भायंदर (W)-401 101.

आजीवन सदस्यता शुल्क भिजवाने का पता :

दिव्य संदेश प्रकाशन

1) **C/o. सुरेन्द्र जैन** © 2684 3140
4, मेरी विला बिल्डींग, पहला माला,
मांजरेकर वाडी,
मथुरादास वसनजी रोड,
अंधेरी (ईस्ट), मुंबई - 400 069.

2) **C/o. सुरेन्द्र जैन** © 2203 45 29
47, कोलभाट लेन,
ऑ. नं. 5,
डॉ. एम.बी. वेल्कर लेन,
ग्राउन्ड फ्लोर, मुंबई - 400 002.

अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि
परोपकारी पूज्य गुरूदेव
पंन्यास प्रवर

श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य

निवेदक

गुरूपाद पद्म रेणु

गणि रत्नसेन विजय

अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य के चरम शिष्यरत्न

गोडवाड के गौरव पूज्य गणिवर्य

श्री रत्नसेन विजयजी म.सा.

प्रकाशन-सहयोगी

शा सुरजमलजी सोलंकी

श्रीमती शांतिबाई

पूज्य पिताजी शा सुरजमलजी वीरचंदजी सोलंकी
(खिमेल-राज. निवासी)
के आत्मश्रेयार्थ तथा
पूज्य माताजी श्रीमती शांतिबाई सुरजमलजी सोलंकी के
जीवन में हुए सुकृतों की अनुमोदनार्थ
पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है।

निवास

रमेशकुमार सुरजमलजी सोलंकी
ताराबाग को. हा. सो.
स्वप्न बिल्डिंग,
1st Floor, Flat No. 105, लव लेन
मजगांव-मुंबई-400010
फोन: 23755859/ 23895074
मो.: 9820206878

निवेदक

पुत्र- रमेशकुमार सुरजमलजी सोलंकी
पुत्रबधु- श्रीमती पुष्पाबाई रमेशकुमार
पौत्र- विनीत
पौत्री- नम्रता, प्रियंका

जीवन ही संदेश

तारक तीर्थंकर परमात्मा जगत् के जीवों के कल्याण के लिए धर्म शासन की स्थापना करते है । परमात्मा की वाणी को गणधर भगवंत सूत्र के रुप में गुंथते है । प्रभु की ही वाणी चार अनुयोगों मे विभक्त हैं । द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरण करणानुयोग और धर्मकथानुयोग ।

प्रभु की देशना का मूलभूत उद्देश्य चरण करणानुयोग को पुष्ट करना ही है ।

तारक परमात्मा भी जगत् के जीवों को सन्मार्ग व सदाचार की राह दिखाने के लिए धर्म कथानुयोग का आलंबन लेते है । जो अच्छी बात डायरेक्ट उपदेश के रुप में ग्राह्य नहीं बनती है वो ही बात चरित्र के माध्यम से सीधी ग्राह्य बन जाती है ।

चारित्रवान् महापुरुषों व महासतियों का जीवन ही उपदेश होता है । उनके जीवन की अनेकविध घटनाएँ हमें अनेकविध प्रेरणाएँ प्रदान करती है ।

प्रातःकाल की मधुरवेला में जब हम प्रतिक्रमण करते हैं तब 'सज्झाय' के रुप में अनेक महासत्त्वशाली महापुरुषों तथा शीलवती महासतियों को याद करते है ।

वर्तमान युग की कितनी भयंकरता है कि महापुरुष और महासतियों के आदर्श जीवन प्रसंगों को जानने के बजाय टी.वी. के पर्दो पर चरित्रहीन फिल्मी हिरो-हिरोइन को आंखें फाड फाडकर देखते है ।

आज की युवापीढी को पवित्र चरित्र में Interest कम हो गया हैं और इसी कारण अश्लील व गंदे दृश्यों को देखने में वह ज्यादा रस लेती है ।

व्यक्ति का जैसा आदर्श होगा वैसा ही उसका जीवन बनेगा । जैसा चेहरा होगा, वैसा ही उसका प्रतिबिंब पडेगा ।

टी. वी. के पर्दो पर आनेवाले मनो भंजक दृश्यों के फलस्वरुप आज की युवा पीढी रुप और रुपयों में पागल बनती जा रही है ।

आज की युवा पीढी को उन्मार्ग से बचाने और सन्मार्ग में प्रतिष्ठित करने के लिए उच्च आदर्शों को आवश्यकता है ।

प्रातः काल की मधुरवेला में 'भरहेसर' की सज्झाय के माध्यम से हम जिन महासतियों को याद करते हैं, उनमें से कुछ महासतियों के जीवन-प्रसंगों को हिन्दी भाषा में आलेखित करने का मैंने यह अल्प प्रयास किया है ।

अपने प्राणों की लेश भी परवाह किए बिना अपने शील के आदर्श को जीवंत रखनेवाली महासतियों के जीवन में से यदि थोडी भी प्रेरणा लेंगें तो महासतियों के जीवन-आलेखन का मेरा श्रम अवश्य ही सफल व सार्थक समझूंगा ।

चरित्र-ग्रंथो में कहीं कहीं मतांतर भी देखने को मिलते है । पूर्व प्रकाशित संस्कृत, प्राकृत तथा गुजराती आदि रचनाओं के आधार पर आलेखित इन जीवन-प्रसंगों में जिनाज्ञा-विरुद्ध कही लिखने में आया हो तो त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडम् ।

मनमोहन पार्श्वनाथ जैन मंदिर
न्यु टिंबर मार्केट,
भवानी पेठ, पूना-42
नूतन वर्षारंभ-२०५९
दि. 5-11-2002

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद गुरुदेव
पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
पादपद्मरेणु
रत्नसेनविजय

पू. गणिवर्य श्री रत्नसेन विजयजी म. सा. का हिन्दी साहित्य

1.	वात्सल्य के महासागर	अप्राप्य	48.	हंस श्राद्ध व्रत दीपिका	अप्राप्य
2.	सामायिक सूत्र विवेचना	"	49.	कर्म को नहीं शर्म	"
3.	चैत्यवन्दन सूत्र विवेचना	"	50.	मनोहर कहानियाँ	"
4.	आलोचना सूत्र विवेचना	"	51.	मृत्यु-महोत्सव	"
5.	श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र विवेचना	"	52.	Chaitya-Vandan Sootra	"
6.	कर्मन की गत न्यारी	"	53.	सफलता की सीढ़ियाँ	"
7.	आनन्दघन चौबीसी विवेचना	"	54.	श्रमणाचार विशेषांक	"
8.	मानवता तब महक उठेगी	"	55.	विविध देववंदन	"
9.	मानवता के दीप जलाएं	"	56.	नवपद प्रवचन	"
10.	जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है	"	57.	ऐतिहासिक कहानियाँ	"
11.	चेतन ! मोहनींद अब त्यागो	"	58.	तेजस्वी सितारें	"
12.	युवानो ! जागो	"	59.	सन्नारी विशेषांक	"
13.	शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना भाग-1	"	60.	मिच्छामि दुक्कडम्	"
14.	शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना भाग-2	"	61.	Two Pratikraman sootra	"
15.	रिमझिम रिमझिम अमृत बरसे	"	62.	जीवन ने तुं जीवी जाण (गुजराती)	"
16.	मृत्यु की मंगल यात्रा	"	63.	आवो ! वार्ता कहुं (गुजराती)	"
17.	जीवन की मंगल यात्रा	"	64.	अमृत की बुंदे	"
18.	महाभारत और हमारी संस्कृति-1	"	65.	श्रीपाल मयणा	"
19.	महाभारत और हमारी संस्कृति-2	"	66.	शंका और समाधान (द्वि.आ.)	35.00
20.	तब चमक उठेगी युवा पीढी	"	67.	प्रवचनधारा	अप्राप्य
21.	The Light of Humanity	"	68.	धरती तीरथ'री	अप्राप्य
22.	अंखियाँ प्रभुदर्शन की प्यासी	"	69.	क्षमापना	अप्राप्य
23.	युवा चेतना विशेषांक	"	70.	भगवान महावीर	अप्राप्य
24.	तब आंसू भी मोती बन जाते है	"	71.	आओ ! पौषध करें	अप्राप्य
25.	शीतल नहीं छाया रे...(गुजराती)	"	72.	प्रवचन मोती	अप्राप्य
26.	युवा संदेश	"	73.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	अप्राप्य
27.	रामायण में संस्कृति का अमर सन्देश-1	"	74.	श्रावक कर्तव्य-1	30.00
28.	रामायण में संस्कृति का अमर सन्देश-2	"	75.	श्रावक कर्तव्य-2	30.00
29.	श्रावक जीवन-दर्शन	"	76.	कर्म नचाए नाच	अप्राप्य
30.	जीवन निर्माण विशेषांक	"	77.	माता-पिता	अप्राप्य
31.	The Message for the Youth	"	78.	प्रवचन रत्न	अप्राप्य
32.	यौवन-सुरक्षा विशेषांक	"	79.	आओ ! तत्वज्ञान सीखें	"
33.	आनन्द की शोध	"	80.	क्रोध आबाद तो जीवन बरबाद	"
34.	आग और पानी (समरादित्य चरित्र) भाग-1	"	81.	जिनशासन के ज्योतिर्धर	"
35.	आग और पानी (समरादित्य चरित्र) भाग-2	"	82.	आहार : क्यों और कैसे ?	"
36.	गिरिराज यात्रा	"	83.	महावीर प्रभु का सचित्र जीवन	50.00
37.	सवाल आपके जवाब हमारे	"	84.	प्रभु पूजन सुख संपदा	अप्राप्य
38.	जैन विज्ञान	"	85.	भाव श्रावक	35.00
39.	आहार विज्ञान	"	86.	महान ज्योतिर्धर	अप्राप्य
40.	How to live true life ?	"	87.	संतोषी नर-सदा सुखी	30.00
41.	भक्ति से मुक्ति (चतुर्थ आवृत्ति)	"	88.	आओ ! पूजा पढाएँ !	35.00
42.	आओ ! प्रतिक्रमण करे	"	89.	शत्रुंजय की गौरव गाथा	35.00
43.	प्रिय कहानियाँ	"	90.	चिंतन-मोती	25.00
44.	अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव	"	91.	प्रेरक-कहानियाँ	25.00
45.	आओ ! श्रावक बने	"	92.	आई वडीलांचे उपकार	25.00
46.	गौतमस्वामी-जंबुस्वामी	"	93.	महासतियों का जीवन संदेश	30.00
47.	जैनाचार विशेषांक	"	94.	श्रीमद् आनंदघनजी पद विवेचन	प्रेसमें

अनुक्रमणिका

क्रम.	विषय	पज नं.
१.	महासती-सुलसा	१
२.	प्रथम साध्वी चंदनबाला	२३
३.	शीलवती मदनरेखा	३१
४.	महासती राजीमती	४९
५.	ऋषिदत्ता	५५
६.	महासती अंजना	८३
७.	महासती देवकी	१०८
८.	महासती सुभद्रा	११०

1

महासती-सुलसा

प्रात:काल की मधुरवेला में साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका रुप चतुर्विध संघ राइ प्रतिक्रमण करता है, तब सभी सज्झाय के रुप में 'भरहेसर' की सज्झाय बोलते है। उस सज्झाय में हम महासत्त्वशाली महापुरुषों को और श्रेष्ठ शीलवती महासतियों को याद करते है।

महासत्त्वशाली महापुरुषों में सर्वप्रथम भरत-महाराजा को याद करते हैं तो महासतियों में सर्व प्रथम 'सुलसा' को याद करते है।

पौषध पारने के सूत्र में भी हम महासती 'सुलसा' को याद करते है।

एक 'नारी' के रुप में पैदा होने पर भी ऐसी क्या विशेषताएँ होगी-महासती सुलसा में, जिस कारण महावीर प्रभु ने भी अपने मुख से सुलसा श्राविका को 'धर्मलाभ' कहलाया था।

अपनी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए पढिये, ***'महासती -सुलसा'***

मगधदेश में अत्यंत ही पराक्रमी और प्रतिभाशाली श्रेणिक राजा राज्य करता था। उस राजा के नंदा, धारिणी आदि अनेक महारानियाँ थी। नंदा महारानी का पुत्र अभयकुमार महामंत्री का पद भार संभाल रहा था। **'बुद्धि निधान'** के तौर पर अभयकुमार की कीर्ति दिग्-दिंगत तक फैली हुई थी।

श्रेणिक और अभयकुमार दोनों प्रभु महावीर के परम भक्त थे।

श्रेणिक महाराजा के रथ के सारथि का नाम था **नाग**।

उस नाग के अत्यंत ही रुपवान् और गुणवान् ऐसी एक प्राणप्रिया पत्नी थी, जिसका नाम था-**सुलसा**।

यद्यपि सुलसा **'नाग'** सारथि की धर्मपत्नी थी, परंतु उसके रोम रोम में महावीर प्रभु के प्रति अपूर्व समर्पण भाव था।

प्रभु का आगमन मात्र सुनकर उसकी रोमराजि विकस्वरित हो जाती थी। प्रभु के दर्शन के साथ ही उसका हृदय अपूर्व आनंद से भर जाता था।

उसका सम्यकत्व अत्यंत ही निर्मल था। धर्मकल्पवृक्ष का मूल सम्यक्त्व ही है। प्रभु के वचनों के प्रति उसे पूर्ण श्रद्धा और आस्था थी।

नाग सारथी राजगृह का धनाढ्य नागरिक था। राज-परिवार के साथ उसका गाढ संबंध था। प्रसेनजित और श्रेणिक राजा के रथ का वह कुशल सारथी था। नाग सारथी धन धान्य से समृद्ध था, वह भी प्रभु का परम भक्त था। उसके

जीवन में रुप और यौवन का सुभग मिलन था। अन्य किसी भी वस्तु की उसे कमी नहीं थी, परंतु एक ही चिंता उसे बार बार सताती थी और वह चिंता थी, पुत्र प्राप्ति की !

एक बार नाग सारथि अपने हाथ पर सिर को टेक कर चिंतातुर अवस्था में बैठा हुआ था, तभी सुलसा ने प्रेम से कहा, `स्वामीनाथ ! आज आप इतने उदासीन क्यों हो ? क्या महाराजा ने आपको ठपका दिया है ? क्या आपका स्वास्थ्य बराबर नहीं हैं ? हे स्वामिन् ! यदि कोई गुप्त बात न हो तो आप मुझे कहे ! मैं आपके दु:ख में भी सहभागी बनना चाहती हूँ।'

`प्रिये ! ऐसी कोई बात नहीं हैं जो मुझे तुझ से गुप्त रखनी पडे। मुझे अन्य कोई चिंता नहीं है। न तो किसी ने मेरा अपमान किया हैं और न ही मेरा स्वास्थ्य खराब हैं। मेरी चिंता का एक मात्र कारण हैं-पुत्र प्राप्ति ! संतान के अभाव में मुझे मेरा जीवन शुन्यसा प्रतीत हो रहा है।'

`हे स्वामिन् ! आप तो जिन वचन से इतने भावित हो। पुत्र के अभाव में आपको इतना खेद नहीं होना चाहिये। क्या पुत्र हमारे परलोक को सुधारने में सक्षम हैं ? क्या पुत्र हो तभी आत्मा की सद्गति होती हैं ? क्या पुत्र हमें दुर्गति के गर्त में डूबने से बचा सकता हैं ?'

सुलसा की इन बातों को सुनकर नाग ने कहा, `प्रिये ! यह सब तत्वज्ञान तो मैं भी अच्छी तरह से जानता हूँ ! परंतु पुत्र प्राप्ति की इच्छा से मेरा मन बारबार आकुल व्याकुल हो जाता है। मैं अपनी इस इच्छा को जीतने में अपने आपको कमजोर मान रहा हूँ।'

सुलसा ने कहा, `स्वामीनाथ ! शायद आपकी इच्छा को पूर्ण करने में मैं असमर्थ होऊं ? आप अपनी इच्छा पूर्ति के लिए अन्य किसी सुयोग्य कन्या के साथ पाणिग्रहण कर सकते हैं।'

`प्रिये ! मुझे अन्य किसी कन्या के साथ पाणिग्रहण नहीं करना है। मैं तो तुझे ही पुत्रवती देखना चाहता हूँ।'

`स्वामीनाथ ! आप हताश न बने ! आपकी इच्छा जरुर पूर्ण होगी। मुझे `प्रभु' पर पूर्ण विश्वास है। उनकी भक्ति-आराधना से मेरी सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती है।' इस प्रकार अपने पति को आश्वासन देकर सुलसा धर्म-कार्य में विशेष उद्यमशील बनने लगी।

सुलसा अपने मन में सोचने लगी, `भक्ति भावपूर्वक और विधिसहित की

गई धर्म-आराधना से इस जगत् में इष्ट फल की प्राप्ति होती है । फिर भी मुर्ख लोग कल्पवृक्ष समान सर्व वांछित को देनेवाले धर्म की उपेक्षा क्यों करते हैं ?'

श्रेष्ठ कुल, परस्पर-प्रेम, दीर्घ-आयुष्य, आरोग्य, इष्ट-संयोग, सुपुत्र की प्राप्ति, घर में लक्ष्मी का वास, मुख में सरस्वती, भूजाओं में पराक्रम, हाथ में दान-लब्धि, शरीर में सौभाग्य, सद्बुद्धि और दिगंत-व्यापी कीर्ति की प्राप्ति धर्म के प्रभाव से ही होती है ।

दुनियाँ में ऐसी कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं हैं, जो धर्म बिना मिल सकती हो ।

अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी जिस कार्य की सिद्धि नहीं होती हो, वह कार्य भी तप धर्म के प्रभाव से शीघ्र हो जाता है ।

होशियार वैद्य भी जिस असाध्य रोग को मिटा न पाए वह असाध्य रोग भी भाव-धर्म के प्रभाव से मिट जाता है । अनाथी मुनि का दृष्टांत भाव धर्म की आराधना का जीवन दृष्टांत है ।

पाप कर्म के उदय के कारण महासती दमयंती के जीवन में पति-वियोग आदि असह्य दु:ख पैदा हुए थे । परंतु उसके शील धर्म के प्रभाव से वे सब दु:ख दूर हो गए थे ।

कुंती व द्रौपदी के कायोत्सर्ग-धर्म के प्रभाव से पांडवों के नागपाश के बंधन टूट गए थे ।

मुझे पूर्ण विश्वास हैं कि धर्म के प्रभाव से मुझे अवश्य पुत्र-प्राप्ति होगी । पुत्र-प्राप्ति से मेरे पति को शांति-समाधि व प्रसन्नता प्राप्त होगी ।

इस प्रकार विचार कर सुलसा धर्म-कार्य के लिए दृढ संकल्पवाली बनी ।

सुलसा ने मूल्यवान् व उत्तम द्रव्यों से जिनेश्वर परमात्मा की त्रिकाल-पूजा भक्ति प्रारंभ की । उसके साथ सुपात्रदान द्वारा गुरु भगवंतों की भक्ति में तत्पर बनी । चतुर्विध-संघ की आदर पूर्वक भक्ति करने लगी । ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने लगी । भूमि शयन और आयंबिल आदि तप में विशेष उद्यमशील हुई ।

सुलसा के दिल में महावीर-प्रभु के प्रतिपूर्ण श्रद्धा और आस्था तो थी ही । परंतु अब उसकी आस्था व श्रद्धा में खूब खूब अभिवृद्धि हो गई । किसी देव की भी वह ताकत नहीं कि उसे अपनी श्रद्धा व आस्था से विचलित कर सके ।

2. परीक्षा

देवलोक में जितने भी इन्द्र होते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होते है । सम्यग्दृष्टि आत्मा गुणानुरागी होती है । आराधक आत्मा में रहे विशिष्ट गुणों को देखकर

सम्यग्दृष्टि आत्मा खुश हुए बिना नहीं रहती है । गुणानुराग के कारण वह आराधक आत्मा के गुणों की अनुमोदना भी अवश्य करती है ।

एक बार सौधर्म इन्द्र अपनी सौधर्म सभा में बैठे हुए थे । उन्होंनें अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया । उनके ज्ञान में महासती सुलसा का चित्र खडा हो गया ।

`अहो ! सुलसा का शील कितना निर्मल है ! अहो ! प्रभु वीर के प्रति उसका कितना दृढ समर्पण भाव है । अहो ! देव-गुरु धर्म के प्रति उसकी कितनी अपूर्व निष्ठा है । सामान्य मानवी तो क्या, अत्ययधिक शक्तिशाली देव भी उस सुलसा को विचलित करने में शक्तिमान् नहीं है ।'

इस प्रकार अपने ज्ञान बल से सुलसा के दृढ सत्त्व को देखकर इन्द्र ने अपनी सौधर्म सभा में सुलसा की प्रशंसा करते हुए कहा, `मनुष्य लोक में भरत क्षेत्र में राजगृही नगरी में रही हुई नाग सारथी की धर्मपत्नी सुलसा की दृढ श्रद्धा अपूर्व कोटि की है । उसकी दृढ श्रद्धा को विचलित करने की ताकत सामान्य मानवी तो क्या किसी देव में भी नहीं है ।'

इन्द्र के मुख से सुलसा के दृढसत्व गुण की प्रशंसा सुनकर सभी सम्यग्-दृष्टि देव प्रसन्न हुए ।

इन्द्र के मुख से सुलसा के सत्व-गुण की प्रशंसा सुनकर हरिणगमैषी देव के मन में सुलसा की परीक्षा करने का मन हो गया । वह देवलोक छोडकर सीधा ही मध्यलोक में आ गया ।

देव ने साधु का रुप किया ।

साधु वेष में रहा वह देव सुलसा श्राविका के महल के द्वार पर आ गया ।

महल में प्रवेश करते ही साधु ने जोर से **'धर्मलाभ'** कहा ।

जैसे ही सुलसा ने `धर्मलाभ' की ध्वनि सुनी, अन्य सब कार्यो को छोडकर वह द्वार पर आ गई । साधु महात्मा को देखते ही उसने अत्यंत ही आदर बहुमान और सद्भाव पूर्वक हाथ जोडकर प्रणाम किया और बोली, `पधारो ! पधारो !! आज मैं धन्य बनी हूँ...आज मेरा आंगण पावन हो गया है ।'

सुलसा ने आगंतुक महात्मा को आहार-पानी के लिए विनति की ।

महात्मा ने कहा, `हे श्राविका ! मुझे अन्य किसी वस्तु का तो खप नही हैं, परंतु मेरे साथी मुनिवर व्याधिग्रस्त है । वैद्य ने उन्हें लक्षपाक तैल से मालिश करने का सूचन किया है, अत: यदि वह तैल तुम्हारे पास हो तो उस तैल का खप है ।'

मुनिवर की इस बात को सुनकर सुलसा गद्गद् हो गई । वह सोचने लगी,

अहो ! मेरा कितना सौभाग्य ! उस अमूल्य वस्तु का, इससे बढकर और क्या सदुपयोग हो सकता है ।' इतना विचार कर वह तुरंत ही अपने खंड में गई और लक्ष पाक तैल का घडा उठाकर ले आई ।

परंतु यह क्या ! उस देव ने अपनी माया से वह घडा वहीं फोड दिया । मूल्यवान् तैल वही पर ढुल गया । उसी समय वे मुनि बोले, `अहो ! बहुत नुकसान हो गया । मैं चलता हूँ...दूसरी जगह से तैल ले लूंगा ।'

`नहीं भगवंत ! आप चिंता न करे । रोगी मुनि की चिकित्सा में मेरे तैल का उपयोग होता हो तो इससे बढकर उस वस्तु का क्या सदुपयोग होगा ! मेरे पास दूसरे घडे भी है ! आप मुझे अवश्य लाभ दो ।' इतना कहकर वह दूसरा घडा लाने के लिए अंदर गई और दूसरा घडा उठाकर मुनिराज के पास आने लगी...देवमाया से वह दूसरा घड़ा भी भूमि पर गिर पडा और सारा तैल नीचे ढुल गया ।

दूसरा घडा फूटते ही वे मुनि एकदम चोंक उठे और बोले, `ओ बहिन ! बहुत बडा नुकसान हो गया । लक्षपाक तैल तो मूल्यवान् होता है । आपका दूसरा घडा भी फूट गया है...आप रहने दे..मैं चलता हूँ ।

`नहीं ! मुनिवर ! नहीं ! आप न जाए मेरे पास एक और घडा है । मैं वह घडा ले आती हूँ । आप बिल्कुल चिंता न करे । मुझे कोई दुःख नहीं हुआ है । ग्लाऩ सेवा में मेरी वस्तु काम में आए इससे बढकर इसका सदुपयोग क्या हो सकता हैं ? इतना कहकर वह पुनः अपने महल के भीतरी कमरे में गई और तीसरा घडा लेकर बहार आई...परंतु उस देव ने उस घडे को भी फोड दिया ।

देव माया से सुलसा के पास रहे तीनों घडे फूट गये...मूल्यवान् वस्तु नष्ट हो गई, परंतु आश्चर्य है कि सुलसा के मन उसका लेश भी दुःख नहीं हुआ । उसे इस बात का दुःख जरुर था कि वह मुनिवर को लक्षपाक तैल बहोराने के लाभ से वंचित रह गई...परंतु लक्षपाक तैल की भी उसके मन कोई कींमत नहीं थी ।

सुलसा बोली, `हे गुरुदेव ! मैं कितनी अभागीन नारी हूँ...मेरी वस्तु आपको काम नहीं लगी ।'

...और उसी समय वहां का वातावरण एकदम बदल गया ।

साधु महात्मा के स्थान पर सुलसा ने अपनी आंखों के सामने अत्यंत ही तेजस्वी और कांतिमान् देव को देखा । देव के अद्‌भुत रुप व लावण्य को देखकर सुलसा के आश्चर्य का पार न रहा ।

`अरे ! यह क्या ? वे मुनिवर कहां चले गए ?' सुलसा इस प्रकार सोच ही रही थी कि सामने खडे हरिणगमैषी देव ने कहा, `हे श्राविका मैं सौधर्म देवलोक

का देव हूँ ! आज ही इन्द्रसभा में सौधर्म इन्द्र ने आपकी धर्म-निष्ठा की मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी । उस प्रशंसा को सहन न करने के कारण ही मैं तुम्हारे सत्त्व की परीक्षा के लिए यहां आया था । मैंने ही साधु का रुप किया था...और लक्षपाक तैल के घडे भी मैंनें ही फोडे थे...तूं मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण हुई है । तुझे लाख लाख धन्यवाद हो ! हे देवी ! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ...तुझे जो चाहिये वह वरदान मांग ले ।'

यद्यपि सुलसा के दिल में इस लौकिक भौतिक सुख को पाने की लेश भी लालसा नहीं थी...फिर भी एक मात्र अपने पति नाग की समाधि व चित्त-प्रसन्नता का ध्यान रखते हुए सुलसा ने इतना ही कहा, 'हे देव ! आप तो विशिष्ट ज्ञानी हो ! आप अपने ज्ञान से मेरे दिल में रहे मनोरथ को जान सकते हो ।'

देव ने कहा, 'हाँ देवी ! तेरी मनोकामना का मुझे पता है । तेरी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी । मैं तुझे ३२ गोलियाँ देता हूँ...क्रमशः तुम एक-एक गोली खाना ! इसके प्रभाव से तुझे ३२ पुत्रों की प्राप्ति होगी । कभी भी जरुरत लगे तो तुम मुझे याद करना । इतना कहकर वह देव अदृश्य हो गया ।

3. पुत्र-प्राप्ति

नाग सारथी के मन, पुत्र-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा थी । पुत्र के अभाव में उसे अपने घर में शुन्यता का आभास हो रहा था ।

उसकी मान्यता थी कि पुत्र से अपनी वंश परंपरा अखंडित रहती है ।

'प्रिय पत्नी, विनयी-पुत्र और संत पुरुषों की संगति ये गृहस्थ जीवन में विश्राम स्थल समान है ।'

सुलसा के दिल में संतान प्राप्ति के लिए कोई उत्सुकता नहीं थी ।

उसकी मान्यता थी कि परलोक गमन समय पुत्र कोई दुर्गति से बचाने वाला नहीं है ।

अनेक पुत्रों वाले माता-पिता, चक्रवर्ती जैसे भी मरकर नरक में चले गए ।

धर्म आचरण के अभाव में अनेक पुत्र होने पर भी आत्मा को स्वर्ग या अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती है ।'

फिर भी अपने पति की समाधि के लिए सुलसा ने देव-वरदान के रुप में पुत्र प्राप्ति की कामना व्यक्त की थी ।

हरिणगमैषी देव द्वारा पुत्र प्राप्ति के वरदान की बात सुलसा ने अपने पति नाग को कही ।

पुत्र-वरदान की बात जानकर नाग सारथी की खुशी का पार न रहा। उसने सुलसा को खूब खूब धन्यवाद दिया।

सांसारिक सुखों को भोगते हुए उनका समय व्यतीत होने लगा।

एक दिन सुलसा ने सोचा, `देव ने मुझे ३२ पुत्रों का वरदान दिया है। परंतु इतने पुत्र मैं क्या करुंगी ?'

ज्यादा पुत्र होंगें तो वे मेरी धर्म साधना व प्रभु-भक्ति में बाधक बनेंगें। अत: मुझे ३२ पुत्र नहीं चाहिये, मुझे तो ३२ लक्षण युक्त एक ही पुत्र होगा तो भी चलेगा गुणवान्, पराक्रमी और रुपवान् ऐसा एक पुत्र भी बस है।

आकाश में तारें तो बहुत होते हैं, परंतु एक ही चंद्र सारे अंधकार को दूर कर देता है।

हजारों गायों के बजाय मनोकामना को पूर्ण करने में समर्थ ऐसी एक कामधेनु गाय ही पर्याप्त है।

हजारों कांच के टुकडों के बजाय तो एक चिंतामणि रत्न ही बस है।

`मुझे तो एक ही श्रेष्ठ पुत्र चाहिये। इस प्रकार विचार कर वह एक साथ में ३२ गोलियाँ खा गई।

देव द्वारा दी गई उन गोलियों के प्रभाव से सुलसा के पेट में ३२ गर्भ पैदा हुए। धीरे धीरे गर्भ में रहे बच्चे बडे होने लगे और उसके साथ ही सुलसा की पीडा बढने लगी।

एक साथ गर्भ में ३२ संतानों के कारण सुलसा की पीडा का पार न रहा। उसने उसी समय देव को याद किया। देव हाजिर हो गया।

देव ने पूछा, `मुझे क्यों याद किया ?'

सुलसा ने अपनी पीडा की बात कही।

देव ने कहा, `अरे भोली ! तूंने यह क्या कर दिया ? मैंनें तो तुझे १-१ गोली खाने का कहा था, तूं एक साथ में खा गई ? अब तुझे जो पुत्र होंगें वे सब एक समान आयुष्यवाले होंगें...और एक की मृत्यु में सबकी मृत्यु हो जाएगी। यदि तूंने अलग अलग गोलियाँ ली होती तो सब अलग अलग आयुष्यवाले, पराक्रमी और विद्वान् पुत्र पैदा होते।

सुलसा ने कहा, `आपकी बात सही हैं, लेकिन अब जो होना था, वह हो गया। **इस जगत् में सभी जीव अपने अपने किए हुए कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख का अनुभव करते है। जिस जीव की जैसी भवितव्यता होती हैं, वैसा ही होता है। उसमें कुछ भी परिवर्तन करने की ताकत इस संसार में किसी में नहीं है।**

हे देव ! मुझे हर्ष भी नहीं है और शोक भी नहीं । क्योंकि बुद्धि कर्मानुसारिणी होती है । आपको ठीक लगे तो मुझे जो असह्य पीडा हो रही हैं, उसे आप दूर कर सकोगे ।'

सुलसा की इस प्रार्थना को सुनकर उस देव ने तुरंत ही उसकी पीडा दूर कर दी ।

धीरे-धीरे समय व्यतीत होने लगा । धर्म कार्य में प्रवृत्त सुलसा अच्छी तरह से गर्भ का पालन पोषण करने लगी ।

गर्भकाल व्यतीत होने पर एक शुभ दिन सुलसा ने एक साथ ३२ पुत्रों को जन्म दिया ।

नागसारथी को जब पुत्र-जन्म के समाचार मिले तो उसके आनंद का पार न रहा । उसने खूब धूम धाम से पुत्रों का जन्म-महोत्सव मनाया ।

नागसारथी ने अपने पुत्रों के देवदत्त आदि नाम रखे । धीरे धीरें वे पुत्र बडे होने लगे । वे सभी पुत्र अत्यंत ही रुपवान् और गुणवान थे । अल्प समय में ही वे सभी कलाओं में निपूण हो गए । क्रमशः वे सभी यौवन वंय को प्राप्त हुए ।

एक दिन नाग सारथी ने समान वयवाली, रुपवान् और गुणवान् ऐसी ३२ श्रेष्ठी कन्याओं के साथ अपने ३२ पुत्रों का पाणिग्रहण करा दिया ।

4. अकाल-मृत्यु

वैशाली नगरी में महाराज चेटक का साम्राज्य था । वे भी प्रभु के परम भक्त श्रावक थे । श्रावक जीवन के अलंकार स्वरुप अनेक व्रतों का उन्होंने स्वीकार किया था । उनके 'प्रथा' नाम की महारानी थी ।

महाराजा के कुल ७ पुत्रियाँ थी ।

पहली पुत्री प्रभावती का विवाह वीतभय नगर के महाराजा उदयन के साथ हुआ था ।
दूसरी पुत्री पद्मावती का विवाह चंपानगरी के अधिपति दधिवाहन राजा के साथ हुआ था ।
तीसरी पुत्री मृगावती का विवाह कोशांबी के राजा शतानिक के साथ हुआ था ।
चोथी पुत्री शिवा का विवाह उज्जैनी नगरी के राजा चंडप्रद्योत के साथ हुआ था ।
पांचवी पुत्री ज्येष्ठा का विवाह कुंडपुर नगर के युवराज नंदिवर्धन के साथ हुआ था ।

महाराजा की दो पुत्रियों का विवाह बाकी था...सुज्येष्ठा और चेलना ।

दोनों राजकुमारियाँ का अद्‌भुत रुप व लावण्य था । दोनों सरस्वती की साक्षात् अवतार तुल्य थी । उन दोनों के बीच गाढ प्रेम था । वे सर्व कलाओं में कुशल

थी ।

एक बार वे दोनों अपने बैठक खंड में वार्ता विनोद कर रही थी तभी भगवे वस्त्र धारी एक तापसी का आगमन हुआ ।

दोनों राजकुमारियाँ अपने आसन पर से खडी हो गई । उन्होंने तापसी को पूछा, `आपका आगमन कैसे हुआ ?'

तापसी ने कहा, `मैं आपको सच्चा धर्म समझाने आई हूँ ।'

उन्होंनें कहा, कहो, `कौनसा धर्म हैं ?'

तापसी ने कहा, `शौच मूल धर्म ही सच्चा धर्म हैं, उसी से सभी पापों का नाश होता है ।'

सुज्येष्ठा ने कहा, `शौच तो स्वयं अशुभ आश्रव रुप है, वह धर्म कैसे हो सकता हैं ?'

जिनेश्वर कथित अहिंसा-मूलक दयामय धर्म ही सच्चा धर्म है । दया ही धर्म रुपी वृक्ष का मूल है । दया के अभाव में धर्म कैसे ?

कडवी तुंबडी को तीर्थों के पवित्र जल में स्नान कराने से क्या वह कभी मीठी हो सकती है ? बस, इसी प्रकार सिर्फ देह की शुद्धि करने से कभी आत्म कल्याण संभव नहीं है ।

इस प्रकार सुज्येष्ठा ने अनेक तर्क देकर तापसी के शौच धर्म का खंडन किया । उसने अपनी दासियों का आदेश देकर उस तापसी को अपने खंड से बाहर निकाल दी ।

सुज्येष्ठा के द्वारा हुए इस अपमान को वह तापसी सहन नहीं कर पाई, वह अत्यंत ही कोपायमान हो गई । अपने अपमान का बदला लेने के लिए वह सोचने लगी । सोचते सोचते आखिर उसे एक उपाय मिल गया ।

सुज्येष्ठा को आपत्ति में डालने के लिए उसने एक काष्ठ-फलक पर सुज्येष्ठा का चित्र तैयार कर दिया । वह तापसी चित्र कला में अत्यंत ही होशियार थी । उसने सुज्येष्ठा का अत्यंत ही मन मोहक चित्र तैयार किया ।

वह उस चित्र को लेकर राजगृही नगरी में श्रेणिक महाराजा के महल में गई । राजा ने उसका अभिवादन किया । औपचारिक बातचीत के बाद तापसी ने वह चित्र राजा के सामने रख दिया ।

सुज्येष्ठा के अत्यंत ही मन मोहक चित्र को देख, श्रेणिक महाराजा का मन अत्यंत ही आवर्जित हो गया । उन्होंने तापसी को पूछा, `यह रुप सुंदरी कौन हैं ?' यह नागकन्या है ? कामदेव की पत्नी रति है ? कुछ भी हो यह मानव कन्या तो नहीं

हो सकती है । सच कहो, यह किसका चित्र हैं ?'

तापसी ने कहा, 'यह किसी देवी का चित्र नहीं है । यह तो एक राजकन्या का ही चित्र है, यह तो उस कन्या का अंश मात्र भी नहीं है । उस कन्या का मूल स्वरुप तो इससे खूब अद्‌भुत है । यह कन्या और कोई नहीं है, यह तो चेटक महाराजा की पुत्री सुज्येष्ठा है और वह आपके लिए ही योग्य है । गुण और रुप का उसमें सुभग समन्वय हुआ है ।' इतना कहकर वह तापसी अन्यत्र चली गई ।

श्रेणिक महाराजा ने सुज्येष्ठा का वह चित्र देखा और वे अत्यंत ही मुग्ध हो गए । वे सुज्येष्ठा के विचारों में ही खो गए । किसी भी उपाय से सुज्येष्ठा को पाने के लिए समुत्सुक बन गए ।

सुज्येष्ठा के साथ पाणि-ग्रहण करने के लिए श्रेणिक ने अपने दूत को तैयार किया और वैशाली के लिए रवाना कर दिया ।

कुछ ही दिनों में वह दूत वैशाली पहुँच गया । वह दूत राजसभा में उपस्थित हुआ । उसने राजा को निवेदन करते हुए कहा, 'हे राजन् ! मैं राजगृही नगरी से श्रेणिक महाराजा का संदेश लेकर आया हूँ ।' 'कहो, क्या संदेश हैं ?' राजा ने उत्सुकता से पूछा ।

'श्रेणिक महाराजा आपकी सुपुत्री सुज्येष्ठा के साथ पाणि-ग्रहण करना चाहते है ।'

'ओहो ! यह बात संभव नहीं है । तुम्हारे स्वामी वाहीक कुल में पैदा हुए है । अतः हीनकुल में उत्पन्न हुए तुम्हारे स्वामी को हैस्तयवंश में उत्पन्न हुई यह कन्या कैसे दे सकता हूँ ? तुम यहां से चले जाओ ।'

इस प्रकार चेटक राजा से तिरस्कृत हुआ वह दूत राजगृही नगरी में आ गया । उसने श्रेणिक महाराजा को सारी बात कही ।

दूत की बात सुनकर श्रेणिक को अत्यंत ही आघात लगा । राहु से ग्रस्त चंद्र की तरह उसका मुंह निस्तेज हो गया ।

सुज्येष्ठा के चित्र ने श्रेणिक का मन हर लिया था । अन्य किसी कार्य में श्रेणिक का मन नहीं लगता था ।

आखिर, अभयकुमार को इस बात का पता चला ।

अभयकुमार ने कहा, 'पिताजी ! कुछ काम बल से सिद्ध होते हैं और कुछ काम बुद्धि से । चेटक बलवान् राजा है, उसे अपने कुल का अभिमान भी हैं, अतः वह सीधे तरीके से तो अपनी पुत्री नहीं देगा इसके लिए अन्य उपाय ही करना पडेगा । आप निश्चित रहे । मैं उपाय करके भी उस कन्या को प्राप्त करा दूंगा ।'

अभयकुमार के आश्वासन भरे शब्दों को सुनकर श्रेणिक महाराजा निश्चिंत हो गए ।

सुज्येष्ठा को पाने के लिए अभयकुमार ने गहराई से सोचा । सोचते सोचते आखिर उसे एक उपाय मिल गया ।

उसने राजगृही के श्रेष्ठ चित्रकार को बुलाकर एक काष्ठ फलक पर श्रेणिक महाराजा का अत्यंत ही सुंदर चित्र तैयार कराया ।

उसके बाद गुटिका के प्रभाव से अपने रुप-रंग और स्वर को बदल किया । अभयकुमार ने व्यापारी का वेष धारण किया । क्रमशः आगे बढता हुआ वह वैशाली नगरी में आया । राजमहल के पास में ही उसने अपनी दुकान चालू करी दी । अभयकुमार अपनी दुकान में देह-शणगार के लिए उपयोगी सुगंधी पदार्थ बेचने लगा ।

उसके मृदु व्यवहार से आकर्षित होकर राजमहल में से अनेक दासियाँ भी उसके पास सामान खरीदने के लिए आने लगी ।

एक बार सुज्येष्ठा की दासी कुछ सामान खरीदने के लिए अभयकुमार की दुकान पर आ रही थी, तभी अभयकुमार, श्रेणिक के फोटो की देव की तरह पूजा करने लगा ।

दासी ने श्रेणिक का वह चित्र देख लिया । उस चित्र को देख वह खूब प्रभावित हुई । उसने पूछा यह चित्र किसका है ?

अभय ने कहा, यह तो राजगृही के सम्राट् श्रेणिक महाराजा का चित्र है । मैं उन्हें अपना आराध्यदेव मानता हूँ ।

दासी ने जाकर सुज्येष्ठा को बात कही । सुज्येष्ठा के मन में श्रेणिक के चित्र को देखने का कुतुहल पैदा हुआ ।

दासी ने आकर अभयकुमार को बात कही । अभयकुमार ने कहा, `मैं यह चित्रपट्ट देने के लिए तैयार हूँ, परंतु महाराजा को इस बात का पता नहीं लगना चाहिये ।'

दासी ने कहा, `आप निश्चिंत रहे । यह बात बिल्कुल गुप्त रहेगी ।'

अभयकुमार ने कपडे में लपेटकर श्रेणिक का चित्र दासी को दे दिया ।

दासी ने जाकर वह चित्र सुज्येष्ठा को दिया । चित्रपट्ट में रहे श्रेणिक के अद्‌भुत रुप व लावण्य युक्त चित्र को देखकर तत्क्षण सुज्येष्ठा ने मनोमन संकल्प कर लिया कि इस जीवन में मेरा विवाह होगा तो श्रेणिक के साथ ही । अन्य किसी को मैं अपना वर नहीं बनाऊंगी ।

सुज्येष्ठा ने दासी को बात कही । दासी ने जाकर अभयकुमार को कहा, `आप कुछ भी उपाय कर राजकन्या की मनोकामना को पूर्ण करने का प्रयत्न करे । श्रेणिक के चित्रपट्ट ने उसके मन को हर लिया है । वह मन से तो श्रेणिक को वर चूकी है । अतः आप कुछ भी उपाय कर श्रेणिक और सुज्येष्ठा के पाणिग्रहण का उपाय शोध ले ।'

अभय ने कहा, `राजकुमारी अपने संकल्प पर दृढ रहेगी न ? महाराजा चेटक अपनी पुत्री को सीधी रीति से तो सौंपने के लिए तैयार नहीं होंगें अतः श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण का एक मात्र उपाय रहेगा `अपहरण' । इसके लिए सुज्येष्ठा को पूरी तैयारी रखनी होगी और यह सारी योजना पूर्णतया गुप्त रहे, यह खूब जरुरी होगा ।'

दासी ने जाकर सुज्येष्ठा को सब बातें कह दी । अभयकुमार की हर बात में सुज्येष्ठा ने अपनी सम्मति दे दी । वह किसी भी उपाय से इस जीवन में श्रेणिक को ही वरना चाहती थी ।

दासी ने जाकर, अभयकुमार को सारी बात कह दी । अभयकुमार ने कहा, `मैं राजमहल के निकट भू-भाग तक सुरंग खुदवा दूंगा । उस सुरंग के मार्ग से ही श्रेणिक महाराजा यहां आएंगें और सुज्येष्ठा को रथ में बिठाकर ले जाएंगें ।'

दासी ने जाकर सुज्येष्ठा को सारी जानकारी दे दी ।

सुज्येष्ठा ने चेलना को सब बातें कही । चेलना ने भी श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण करने का संकल्प किया ।

अपनी योजना को साकार होते देख अभयकुमार ने अपनी दुकान बंद कर दी...और तुरंत ही घोडे पर सवार होकर राजगृही नगरी में आ गया ।

राजगृही नगरी में आकर अपने पिता के चरणों में नमस्कार करके बोला, `हे पिताजी ! आपकी शुभाशीर्वाद से आपके कार्य को करने में मैं सक्षम बना हूँ ।' इतना कहकर अभयकुमार ने श्रेणिक महाराजा को सारी बातें बतला दी ।

इधर सुज्येष्ठा के अपहरण की अपनी योजना को सफल बनाने के लिए मगध की सीमा के अंत भाग से लेकर वैशाली तक के गुप्त मार्ग को खोदने का काम प्रारंभ कर दिया । कुछ ही दिनों में वह सुरंग तैयार हो गई ।

अभयकुमार ने सुलसा के ३२ पुत्रों को श्रेणिक महाराजा के अंगरक्षक के रुप में नियुक्त किया । सुलसा के सभी पुत्र अत्यंत ही बलवान्, साहसिक और युद्ध कुशल थे ।

श्रेणिक महाराजा तथा ३२ अंगरक्षकों के कुल ३३ रथ तैयार कर दिए गए ।

सुज्येष्ठा को भी गुप्त रुप से सब समाचार भेज दिए गए ।

एक शुभ दिन श्रेणिक ने राजगृही से प्रयाण प्रारंभ कर दिया । सबसे आगे सुलसा के ३२ पुत्रों का रथ था और अंत में श्रेणिक महाराजा का रथ था ।

सुरंग में से निकलकर श्रेणिक बाहर आ गए । अंगरक्षकों के भी सभी रथ सुरंग में से बाहर आ चुके थे ।

सुज्येष्ठाने चेलना को सब बातें कहीं, तो वह भी श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण के लिए तैयार हो गई ।

सुज्येष्ठा और चेलना भी रथ में बैठने के लिए तैयार होकर आई थी ।

सभी रथ तैयार थे । सबसे पहले चेलना रथ में आरुढ हो गई । उसी समय ज्येष्ठा भी रथ में चढने के लिए तैयार ही थी...परंतु अचानक उसे रत्नों के आभूषणों की पेटी याद आ गई ।

उसने श्रेणिक को कहा, `मैं अपने रत्नों की पेटी लेकर अभी आती हूँ, तब तक आप ठहरना ।'

थोडा समय बीतने पर सुलसा पुत्र अंगरक्षकों को चिंता सताने लगी ।

उन्होंने श्रेणिक को कहा, `राजन् ! शत्रु के घर में लंबे समय तक रहना हितावह नहीं है, अतः यहां से शीघ्र प्रयाण करना चाहिये ।'

अंगरक्षकों की ओर से सूचना मिलने पर श्रेणिक ने सोचा, `सुज्येष्ठा रथ में बैठ गई हैं और चेलना रत्नों के आभूषणों की पेटी लेने के लिए राजमहल में गई हैं...परंतु यहां ज्यादा समय तक रुकना ठीक नहीं है ।' इस प्रकार विचारकर श्रेणिक ने सारथी को रथ हांकने के लिए आज्ञा कर दी ।

श्रेणिक की आज्ञा होते ही सारथी ने अपने रथ को सुरंग में प्रवेश करा दिया और इसके साथ ही तेजी से अपना रथ हांक दिया । चंद क्षणों में ही वह रथ सुरंग में तेजी से आगे बढना लगा ।

श्रेणिक के रथ के सुरंग में प्रवेश हो जाने के बाद सुलसा पुत्र ३२ अंग रक्षकों के रथों ने भी सुरंग में प्रवेश कर दिया ।

इधर थोडी ही देर बाद सुज्येष्ठा रत्नों की पेटी लेकर वहां आई...परंतु उसने वहां न तो श्रेणिक का रथ देखा और न ही श्रेणिक के अंगरक्षकों का ।
वह एकदम घबरा गई । अरे ! यह क्या ? मैं रह गई और चेलना चली गई ?

वह करुण-कल्पांत रुदन करने लगी ।

कुछ समय बाद वह शांत हुई और पुनः राजमहल की ओर भागने लगी । उसने जाकर चेटक महाराजा को बात की `पिताजी ! पिताजी ! चेलना का अपहरण

हो गया है ।'

चेलना के अपहरण को सुनते ही चेटक महाराजा आवेश में आ गए । तुरंत ही धनुष-बाण हाथ में लेकर रथ में आरुढ होकर सुरंग की दिशा में आगे बढे ।

उसी समय सेनापति वीरांगक ने कहा, `राजन् ! आपको वहां जाने की जरुरत नहीं है । मैं शत्रु को परास्त कर चेलना को लेकर वापस शीघ्र ही लौट आता हूँ ।'

महाराजा को वीरांगक के पराक्रम पर पूर्ण विश्वास था, अतः स्वयं वहीं रुक गए । वीरांगक ने सुरंग में अपने रथ का प्रवेश कराया । परंतु श्रेणिक का रथ तो सबसे आगे था, अतः वह श्रेणिक के रथ पर कुछ भी प्रहार नहीं कर पाया परंतु उसने श्रेणिक के एक अंगरक्षक पर बाण का प्रहार किया । बाण से सुलसा का एक पुत्र मारा गया । परंतु यह क्या ? सुलसा के एक पुत्र के मरण के साथ शेष ३१ पुत्रों की भी मौत हो गई । वे सब वहीं पर ढेर हो गए ।

इधर वीरांगक सुरंग में से वापस लौट आया । उसने चेटक महाराजा को समाचार दिए, `श्रेणिक का रथ राजगृही की सीमा में पहुँच चूका था और वहां पर उसका विराट् पैदल सैन्य तैयार खडा था, अतः मैं चेलना को छुडाए बिना ऐसे ही वापस लौट आया हूँ ।'

इधर सुज्येष्ठा को ज्योंहि समाचार मिले कि `वीरांगक वापस लौट आया है और चेलना वापस नहीं आई है'...उसके आघात का पार न रहा ।

सुज्येष्ठा सोचने लगी, `अहो ! मेरे दुर्भाग्य की कोई सीमा नहीं है । जिस श्रेणिक को पाने के लिए मैंनें इतना अधिक श्रम उठाया । अभयकुमार ने यहां तक गुप्त सुरंग तैयार की और मैं इतनी अभागिन नारी कि श्रेणिक के हाथ को पकड न सकी । इस जीवन में श्रेणिक को छोड अन्य किसी का हाथ मुझे पकडना नहीं हैं...अतः अब मैं महावीर प्रभु के वरद हस्तों से भागवती दीक्षा अंगीकार कर साध्वी जीवन का स्वीकार करुंगी ।'

अवसर देखकर सुज्येष्ठा ने अपने दिल की भावना अपने पिता को व्यक्त की ।

सुज्येष्ठा की इस भावना को देख चेटक राजा को आश्चर्य हुआ । आखिर उसकी दृढ भावना को देख माता-पिता ने भी उसे सहर्ष अनुमति प्रदान की...और एक शुभ दिन मोह माया के बंधनों का त्यागकर सुज्येष्ठा आर्या साध्वी बन गई ।

निर्मल संयम जीवन की आराधना-साधनाकर सुज्येष्ठा ने अपना आत्म कल्याण किया ।

सुरंग के मार्ग को पारकर जब श्रेणिक का रथ राजगृही नगरी में पहुँच गया,

तब श्रेणिक ने कहा, `देवी सुज्येष्ठा ! राजगृही नगरी आ गई हैं, तुम रथ में से नीचे उतरो ।'

श्रेणिक के इस संबोधन को सुनकर चेलना ने कहा, `स्वामीनाथ ! मैं सुज्येष्ठा नहीं हूँ, मेरा नाम चेलना है । मैं सुज्येष्ठा की छोटी बहिन हूँ ।'

`सुज्येष्ठा कहां हैं ?'

`नाथ ! मैं और सुज्येष्ठा आपको हृदय से वर चूकी थी, हम दोनों रथ में बैठने के लिए तैयार थी, परंतु सुज्येष्ठा अपने रत्नों के आभूषणों की पेटी भूल गई थी, वह उन्हें लेने के लिए गई...और इधर यह रथ रवाना हो गया । सुज्येष्ठा पीछे रही गई ।'

`ओहो ! सुज्येष्ठा पीछे रही गई ! आखिर भाग्य को मंजूर होता हैं, वही होता है ।'

श्रेणिक ने चेलना को अपने अंतःपुर में भिजवा दी ।

श्रेणिक ने अभयकुमार को बुलाकर पूछा, `अभी तक सुरंग में से सुलसा-पुत्र अंगरक्षक आए नहीं ?'

`पिताजी ! मैं अभी जाता हूँ और छानबीन करके आता हूँ ।'

अभयकुमार घोडे पर बैठकर सुरंग के द्वार के पास आया, तब उसे ज्ञात हुआ कि सभी अंगरक्षकों की मृत्यु हो गई है ।

अंगरक्षकों की मृत्यु को जानकर अभयकुमार को अत्यंत ही आघात लगा ।

अभयकुमार ने जब ये समाचार श्रेणिक महाराजा को दिए तो उनके भी आघात का पार न रहा ।

श्रेणिक सोचने लगे, `अहो ! मेरी मोहांधता को धिक्कार हो । मेरे कारण ही सुलसा के ३२ पुत्रों की एक साथ मृत्यु हुई है । अपने वैर का बदला लेने के लिए मैं वैशाली पर आक्रमण करुं तो भी इससे मुझे क्या फायदा ? सुलसा के ३२ पुत्रों का पुनः संयोग तो अब प्राप्त होने वाला नहीं है ।'

श्रेणिक स्वयं जोर से रुदन करने लगे । आखिर अभयकुमार ने आश्वासन देकर उन्हें शांत किया । अभयकुमार ने कहा, `पिताजी ! हमें मुख्य दो कार्य करने के हैं १) नागसारथी के पुत्रों के मृत देहों को सुलसा की हवेली में पहुँचाना और २) सुलसा-नाग आदि को पुत्र-मृत्यु के समाचार देना ।'

श्रेणिक ने कहा, ये दोनों कार्य हम दोनों को करने होंगें । सुलसा तो धर्मात्मा हैं, शायद वह पुत्र-मृत्यु के आघात को सहन कर लेगी । परंतु नागसारथी और उसकी पुत्र-वधुओं की क्या हालत होगी ? वे उस आघात को कैसे सहन कर

पाएंगें ?

श्रेणिक व अभयकुमार रथ में आरुढ होकर सुलसा के महल की ओर आगे बढे ।

अचानक ही महाराजा व महामंत्री को अपने महल के द्वार पर आए देख नागसारथी के आश्चर्य का पार न रहा ।

उसने हाथ जोडकर विनय पूर्वक बोला, ``राजन् ! पधारो ! पधारों !! आपके आगमन से मेरा आंगण पावन हो गया है । राजन् ! मेरे योग्य सेवा कार्य फरमाइए ।''

थोडी इधर-उधर की बातें करके अवसर देखकर धीरे से अभयकुमार ने कहा, `वैशाली से वापस लौटते समय दुश्मनों ने तुम्हारे एक पुत्र पर प्रहार कर उसे मौत के घाट उतार दिया था-परंतु दुर्भाग्य से उस एक की मृत्यु के साथ शेष सभी पुत्रों की भी मृत्यु हो गई है ।''

अभयकुमार के मुख से अपने ३२ पुत्रों के अकाल अवसान के समाचार सुनकर वज्राघात की तरह मूर्च्छित होकर भूमि पर ढल पडा...और कुछ क्षणों के बाद होश में आने पर करुण कल्पांत रुदन करने लगा । वह अपनें दोनों हाथों से सिर पछाडने लगा । अपने पुत्रों के गुणों को यादकर वह पुनः पुनः जोरसे विलाप करने लगा । उसकी आंखों में से श्रावण-भादो बरसने लगे ।

`हाय ! हो दुर्दैव ! मेरी ३२ पुत्र वधुओं के सौभाग्य को तूंने एक साथ में छीन लिया ? अब मैं `वत्स ! बेटा ! कहकर किसे बुलाऊंगा ? तूंने मुझे ही क्यों न उठा लिया ?'

इधर सुलसा को भी जैसे ही ३२ पुत्रों की अकाल-मृत्यु के समाचार मिले-वह भी मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पडी ।

ठंडी हवा और चंदन के विलेपन से होश में आने पर सुलसा जोर शोर से करुण कल्पांत रुदन करने लगी ।

`ओहो ! मैं कितनी अभागिनी हूँ ? हे पुत्रों ! तुम मुझे छोडकर कहां चले गए ?'

`माँ ! माँ ! कहकर अब मुझे कौन पुकारेगा ?

हे दुदैव ! तूंने मेरी ३२ पुत्र वधुओं को एक साथ विधवा बना दी ?

`हाय ! सच तो मेरे पुत्रों के मरण में मैं ही निमित्त बनी हूँ ! देव ने मुझे क्रमशः खाने के लिए ३२ गुटिकाएँ दी थी परंतु मैंनें वे सब गुटिकाएँ एक साथ खा ली थी...इसी कारण एक की मौत में उन सब की मौत हुई है ।'

सुलसा की पुत्र वधुओं को जब अपनें पतिदेवों के अकाल अवसान के समाचार मिले...वे तुरंत ही मूर्च्छित होकर धरती पर ढल पडी और होश में आने

पर करुण-कल्पांत विलाप करने लगी ।

सभी को आश्वासन देते हुए अभयकुमार ने कहा, ``आप सभी तो विवेकी हो ! जैन धर्म के परमार्थ को अच्छी तरह से जानने-समझनेवाले हो । संसार के सभी पदार्थ क्षणभंगुर व अस्थिर है । अतः तुम्हें इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है ।

ज्ञानी महापुरुषों ने इस संसार में रहे पदार्थों को `इन्द्रजाल' `मेघधनुष' `हाथी के कान' `संध्या के रंग' आदि की विविध उपमाएँ दी है । समुद्र के जल तरंग के समान मनुष्य का आयुष्य अत्यंत ही चपल है ।

संसार में मरण स्वाभाविक है, जीवन विकृति रुप है । जिसका जन्म हैं, उसका मरण तो अवश्यंभावि है । हे बहिन सुलसा !

आप तो तत्वज्ञ हो । भगवान महावीर की उपासिक हो । संसार में जन्म लेनेवाले को एक बार तो अवश्य मरना ही पडता है ।

इस संसार में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्रवधु के जो भी संबंध हैं, वे वास्तविक नहीं है । ये सारे संबंध तो कर्मकृत है । जिस प्रकार धर्मशाला में सभी मुसाफिर इकट्ठे होते हैं, परंतु कुछ समय बाद सभी अलग-अलग दिशाओं में प्रयाण कर लेते हैं, बस, इसी प्रकार मौत के साथ ही सभी जीव अपने अपने कर्म के अनुसार अलग अलग गति में चले जाते है ।''

आंसु बहाते हुए सुलसा बोली, `मंत्रीश्वर ! आपकी बातें सत्य है । भवस्व-रुप को मैं भी अच्छी तरह से जानती हूँ, परंतु पुत्रों के अकाल अवसान से जो आघात लगा हैं, वह मेरे लिए भी असह्य बन गया है ।' इतना कहकर सुलसा और उसकी पुत्र-वधुएँ जोरशोर से आक्रंद करने लगी ।

पुनः महामंत्री ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा, ``आप तो सूर्य समान तेजस्वी महावीर प्रभु की परम उपासिका हो । आपको उपदेश देना भी मुझे लज्जा-स्पद लगता है ।

हे बहिन ! `यह सारा जगत् ही स्वप्न तुल्य हैं तो इन सांसारिक संबंधो को याद कर कल्पांत रुदन करना कहां तक उचित हैं ?'

अभयकुमार के प्रेरणादायी वचनों को सुनकर सुलसा को खूब आश्वासन मिला । उसका शोक धीरे धीरे कम हुआ ।

आश्वासन देकर श्रेणिक व अभयकुमार रथारुढ होकर अपने महल में आ गए ।

इधर उन ३२ पुत्रों की उत्तर क्रिया की गई । धीरे-धीरे समय बीतने लगा और नाग सारथी व पुत्र वधुओं का शोक भी कम होने लगा ।

पुत्रों की अकाल मृत्यु के बाद सुलसा और अधिक धर्म ध्यान में डूब गई। उसे यह सारा संसार निःसार प्रतीत होने लगा।

5. सम्यक्त्व-परीक्षा

अपने चरण कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए भगवान महावीर परमात्मा `चंपा' नगरी में पधारे।

देवताओं ने आकर दिव्य समवसरण की रचना की। रत्नमंडित सिंहासन पर बैठकर प्रभु ने भव-निर्वेदिनी देशना प्रदान की। उस देशना के श्रवण से अनेक पुण्यात्माओं को सद्बोध की प्राप्ति हुई।

देशना समाप्ति के साथ ही हाथ में त्रिदंड व कमंडल लिए हुए, भगवें वस्त्र धारण किए हुए जटाधारी, अंबड परिव्राजक का समवसरण में आगमन हुआ।

अंबड ब्रह्मचारी था, उसके ७०० शिष्य थे। परिव्राजक वेष धारण करने पर भी वह महावीर प्रभु का परम श्रावक था। वह १२ व्रतों का पालन करता था। उसके पास अनेक प्रकार की लब्धियाँ थी। वह कांपिल्यपुर में एक साथ में १०० घरों से भोजन लेता था। वह छट्ठ के पारणे छट्ठ करता था। सूर्य के सामने खडे रहकर आतापना भी लेता था। उसके पास वैक्रिय-लब्धि थी। वह अवधिज्ञानी था। वह अपनी शक्ति से आकाश में गमन कर सकता था।

अंबड ने प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दी और उसके बाद उसने हाथ जोडकर प्रभु की स्तुति की।

अंबड ने प्रभु की देशना का श्रवण किया। तत्पश्चात् राजगृही नगरी का ध्यान कर वह खडा हुआ। उस समय महावीर प्रभु ने अंबड को कहा, ``हे अंबड ! तुम राजगृही नगरी में जा रहे हो तो वहां सुलसा श्राविका के घर जाकर उसे मेरा धर्मलाभ कहना।''

अबंड ने `तहत्ति' कहकर प्रभु के वचन का स्वीकार किया...उसके बाद वह आकाश मार्ग से राजगृही नगरी में आ गया।

राजगृही नगरी में आने के बाद अंबड ने सोचा, `वह सौभाग्यशालिनी सुलसा कौन होगी जिसे प्रभु ने खुद `धर्मलाभ' कहलाया हैं ? उसमें अवश्य ही कोई विशिष्ट गुण होना चाहिये। प्रभुने अन्य किसी को याद न कर सुलसा को याद किया तो जरूर उस सुलसा में कोई विशिष्ट योग्यता होनी चाहिये। उसके गुणों को जानने के लिए मुझे उसकी परीक्षा करनी चाहिये।

सुलसा की परीक्षा करने के लिए अंबड अपना रुप परिवर्तन कर हाथ में

त्रिदंड व कमंडल लेकर सुलसा श्राविका के द्वार पर आया ।

योगीवेष में रहे अंबड ने कहा, `माँ ! मुझे भिक्षा दो ।'

सुलसा ने दासी को कहा, ``इस भिक्षुक को भोजन दे ।''

योगी ने कहा, ``मैं इस तरह भोजन नहीं लेता हूँ, पहले तुम मेरे पाद प्रक्षालन करो फिर मैं भोजन लूंगा ।''

सुलसा ने कहा, `मैं प्रभु महावीर के उपासकों को छोड अन्य किसी का पाद-प्रक्षालन नहीं करती हूँ ।'

योगी ने वहां से विदाई ले ली ।

सुलसा के सम्यक्त्व की परीक्षा के लिए दूसरे दिन अंबड ने ब्रह्माजी का रुप धारण किया ।

सृष्टि के सर्जनहार ब्रह्माजी के हाथ में कमंडल व रुद्राक्ष की माला थी । जटाधारी ब्रह्माजी के पास सावित्री बैठी थी । चार मुखवाले ब्रह्माज़ी सभी को वेदमार्ग समझा रहे थे ।

ब्रह्माजी के दर्शन के लिए चारों ओर से लोग उमड पडे । कुछ सखियाँ आकर सुलसा को भी कहने लगी, `नगर के बाहर ब्रह्माजी खुद आए है । चल, उनके दर्शन के लिए ।'

सुलसा ने कहा, `नहीं ! मैं नहीं आऊंगी । इस सृष्टि के सर्जक ब्रह्माजी नहीं हैं, यह सृष्टि तो अनादि से है और अनंतकाल तक रहेगी । परमात्मा इस सृष्टि के सर्जक नहीं बल्कि दर्शक है ।'' आखिर सुलसा नहीं गई ।

सुलसा की परीक्षा के लिए तीसरे दिन अंबड ने विष्णु का रुप धारण किया ।

कमल समान नाभिवाले, गरुड पक्षी पर आरुढ, पीतांबर धारी हाथों में गदा, शंख, चक्र और धनुष्य को धारण करनेवाले, पास में बैठी हुई लक्ष्मी देवी ।

विष्णु भगवान के दर्शन वंदन और उनके आशीर्वाद पाने के लिए चारों ओर से लोगों का टोला उमड पदा...परंतु उस टोले में भी सुलसा नहीं आई ।

सखियों के आग्रह करने पर वह बोली, ``मुझे प्रभु महावीर के सिवाय अन्य किसी में लेश भी रस नहीं हैं ।''

आखिर विष्णु भगवान को देखने के लिए सुलसा नहीं गई ।

चोथे दिन अंबड ने शंकर का रुप किया ।

संपूर्ण शरीर पर भस्म का लेप, जटा में गंगा, मस्तक पर चंद्र, पास में बैठी हुई पार्वती । कंठ में मनुष्य की खोपडियों की माला, हाथ में डमरु व त्रिशुल, शरीर पर चमडे का आवरण ।

सभी लोग शंकर भगवान के दर्शन के लिए उमड पडे ।

सखियों ने आकर सुलसा को भी चलने के लिए आग्रह किया, परंतु सुलसा ने तो स्पष्ट इन्कार कर दिया ।

पांचवें दिन अंबड ने अपनी वैक्रिय लब्धि से तीर्थंकर की बाह्य समृद्धि की रचना की । लोगों में बाते होने लगी, `तीर्थंकर परमात्मा पधारे है ।'

सभी लोग तीर्थंकर परमात्मा के दर्शन के लिए उमड पडे ।

किसी ने सुलसा को भी चलने के लिए प्रेरणा की ।

सुलसा ने कहा, `कौन से तीर्थंकर पधारे है ?'

किसी ने कहा, `पच्चीसवें ।'

सुलसा बोली, `तीर्थंकर चोबीस ही होते है, पच्चीस नहीं । २४वें तीर्थंकर महावीर प्रभु ही है । यह सब कुछ ढोंग ढकोसला लगता है । यह सब इन्द्रजाल लगता है ।'

आखिर सुलसा वहां भी नहीं गई ।

समवसरण में रहा अंबड सुलसा को शोध रहा था, परंतु उसे कही भी सुलसा के दर्शन नहीं हुए ।

वह स्वगत बोला, `धन्य सुलसा ! धन्य महासती ! तेरा धर्म नकली नहीं, असली है । सारी दुनिया इन्द्रजाल से आकर्षित हो जाती हैं, परंतु तूं तो दृढ सत्त्ववाली है । तुझे चलित करने की ताकत किसी देव-दानव या मानव में नहीं है ।'

अपनी सभी विद्याओं का संहरण कर पांचवें दिन अंबड, श्रावक के वेष में पूजा के उज्ज्वल वस्त्रों को धारण कर हाथ में पूजा की सामग्री लेकर सुलसा के गृह मंदिर में जिनेश्वर परमात्मा की पूजा करने के लिए गया ।

अंबड को श्रावक समझकर तुरंत ही सुलसा ने उसे हाथ जोडकर प्रणाम किया और बोली, `हे धर्मबंधु ! आपका स्वागत हो । आप मेरे घर पधारे ! आपके आगमन से मेरा घर पावन हुआ है । मेरे लिए आज के दिन सोने का सूरज उगा है । मुझे साधर्मिक बंधु का मिलन हुआ है ।

तुरंत ही सुलसा ने अंबड के बैठने के लिए आसन बिछाया । अंबड ने आसन ग्रहण किया । उसके बाद सुलसा ने अंबड के पैरों का प्रक्षालन किया ।

सुलसा ने दासियों द्वारा प्रभु पूजन की तैयारी करा दी । अंबड ने जिनेश्वर भगवंत की भावपूर्वक पूजा की । उसके बाद पुनः योग्य आसन ग्रहण किया और बोला, `हे महासती ! मुझे लाख लाख धन्यवाद हो ! तुमने जैन धर्म के गौरव को बढाया है । जैन धर्म के गंभीर रहस्यों को तूं ने अच्छी तरह से समझा है । तेरे समग्र

जीवन पर जैन धर्म की छाया है ।

हे सुलसा ! तेरा विवेक अपार है । तूं कर्तव्य-अकर्तव्य तथा हेय-उपादेय को अच्छी तरह से जानती है । हे देवी ! तेरा मनुष्य जन्म सफल बना है । परमात्मा ने जिन कारणों से मनुष्य जन्म को महान् और सफल कहा है, तूंने उसे सार्थक कर दिखाया है ।

तप त्याग और परमात्म-भक्ति से तेरा जीवन सुवासित बना है ।

हे परम श्राविका ! तूं सूक्ष्म-प्रज्ञा को धारण करनेवाली है । परमात्मा के यथार्थ-स्वरुप को तूंने पहिचाना है । सतियों में शिरोमणि है ।

वीतराग पुरुषों में मुकुट समान ऐसे चोबीसवें जिनेश्वर महावीर परमात्मा ने देव-देवेन्द्र और मनुष्यों की सभा में तेरी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है ।

मैं अंबड परिव्राजक हूँ...महावीर प्रभु का परम भक्त हूँ । मैं अभी चंपा नगरी से आ रहा हूँ । चंपा नगरी में रहे महावीर प्रभु ने तुझे स्वमुख से **'धर्मलाभ'** कहलाया है ।'

अंबड के मुख से प्रभु के 'धर्मलाभ' संदेश को सुनकर सुलसा की देहलता नाच उठी । उसके रोम रोम में आनंद छा गया । उसकी आंखों में हर्ष के आंसु उमड पडे । उसका मुख-कमल खिल उठा । वह अपने आसन से खडी हो गई...और उसने भावपूंर्वक परमात्मा की स्तवना की ।

उसके बाद अंबड ने कहा, 'हे भाग्यशालिनी सुलसा ! तेरी परीक्षा के लिए ही मैंनें ब्रह्म, विष्णु, महेश आदि सब रुप किए थे...परंतु तूं नहीं आई ? मैंनें तीर्थंकर का रुप किया, फिर भी तूं कुतुहल वश भी नहीं आई ?

सुलसा बोली, 'हे धर्मबंधु ! आप तो ज्ञानी हो, फिर मुझे यह प्रश्न क्यों पूछते हो ? प्रभु महावीर को पाने के बाद अब मेरा मन ब्रह्म आदि में कैसे जा सकता है ?'

जिस भ्रमरने हाथी के गंड स्थल में से बहते हुए मद का स्वाद लिया हो वह क्या नीम का रस पीने की इच्छा करेगा ?

समवसरण में बैठकर मैंनें प्रभुवीर की अमृत-वाणी का आस्वाद किया हैं तो अब मुझे अन्य देवों का आकर्षण कैसे हो सकता हैं ?

मेरे लिए तो प्रभु के चरण ही शरण भूत है । महावीर प्रभु के चरण कमलों को पाने के बाद अब हरि-हर आदि रागी-द्वेषी देवों के पास जाने का मन ही नहीं होता है ।

मेरा मन प्रभु वीर में ही लीन बना हुआ हैं । **वे यहां पधारे तो मेरा देह रोमांचित हुए बिना नहीं रहता हैं ।**

अंबड ने कहा, `सुलसा ! तेरी श्रद्धा और समर्पण भाव को लाख लाख धन्यवाद है ।'

अंबड ने सोचा, `अहो ! श्रद्धा के परम तत्व को समझने के लिए ही प्रभु ने मेरे द्वारा सुलसा को `धर्मलाभ' कहलाया है । वास्तव में सुलसा की धर्म श्रद्धा अविचल है ।'

उसके बाद सुलसा ने खूब भक्ति पूर्वक अंबड को भोजन कराया ।

भोजन के बाद अंबड ने वहां से विदाई ली ।

त्याग तप की साधना में आगे बढती हुई सुलसा ने वृद्धावस्था में प्रवेश किया, उसकी देहलता पर वृद्धावस्था की छाया दिखाई देने लगी । उसकी काया कृश हो गई ।

समाधिर-मरण प्राप्ति की भावना से सुलसा श्राविका ने अनशन व्रत स्वीकार किया । अपनी अंतिम नियामर्णा के लिए उसने गुरु-भगवंत को विनती की ।

सुलसा की विनंति का स्वीकार कर पूज्य गुरु भगवंत उसके महल में पधारे ।

गुरु भगवंत ने सुलसा को समाधि. मरण के लिए सुंदर प्रेरणाएँ दी ।

सुलसा ने जीवन में हुए सभी पापों के लिए शुद्ध हृदय से आलोचना, निंदा तथा गर्हा की जीवन में हुए सुकृतों की भावपूर्वक अनुमोदना की ।

अरिहंत आदि चार की उसने भावपूर्वक शरणागति स्वीकार कीं ।

अपने देह के प्रति वह सर्वथा निर्भय बन गई ।

शुभ-भावनाओं से उसने अपने मन को अच्छी तरह से भावित किया ।

जगत् के जीव मात्र के कल्याण की कामना से उसका मन भावित बन चूका था ।

इस प्रकार शुभ भावनाओं से भावित बनी शुद्ध सम्यक्त्वधारी सुलसा ने **'तीर्थंकर नाम कर्म'** उपार्जित किया ।

सुलसा ने गुरु-साक्षी से अपने पापों की आलोचना की...अत्यंत समाधि पूर्वक कालधर्म प्राप्तकर सुलसा देवलोक में गई ।

देवलोक के दिव्य सुखों का अनुभव कर एवं अपने दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर सुलसा की आत्मा आगामी चोबीसी में-उत्सर्पिणी काल में पंद्रहवें **अमम** नाम की तीर्थंकर बनेगी ।

अनेक भव्यात्माओं का उद्धार कर अमम **'तीर्थंकर'** के रुप में सुलसा शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त करेगी ।

2 प्रथम साध्वी चंदनबाला

चंपा नगरी !

दधिवाहन राजा ! धारिणी रानी !

राजा और रानी के इकलौती बेटी थी, वसुमती ।

एक बार अवसर देखकर अचानक ही शतानिक राजा ने चंपा-नगरी पर आक्रमण कर दिया । युद्ध के लिए दधिवाहन राजा की अपनी कोई तैयारी नहीं थी...दो सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध चालू हुआ । अपने सैन्य को कमजोर जानकर दधिवाहन राजा अपने प्राण बचाने के लिए गुप्त रुप से भाग गया ।

शतानिक राजा के सैन्य ने चंपा नगरी को बूरी तरह से लूंटा ।

दधिवाहन राजा की रानी व पुत्री भी अपने जीवन के रक्षण के लिए जहां-तहां भटकने लगी...अचानक किसी सैनिक ने उन दोनों को पकड ली और अपने रथ में बिठाकर आगे बढने लगा ।

कोशांबी के राजा शतानिक ने चंपानगरी को अपने अधीन कर ली । शतानिक भी अपने सैन्य के साथ कोशांबी की ओर लौटने लगा । बीच मार्ग में उस सैनिक ने धारिणी को कहा, `हे धारिणी ! तूं अन्य सब चिंता छोड दे...और तूं मुझे पति के रुप में स्वीकार कर ले ।

धारिणी ने कहा, `अरे पापी ! ऐसे कर्ण-कटु दुष्ट वचन मत बोल ! तूं यह क्या बोल रहा हैं ? मैं पर-स्त्री हूँ...और परस्त्री गमन करनेवाला पुरुष तो नरकगामी होता है ।'

धारिणी ने उस सैनिक को समझाने के लिए खूब कोशिश की...परन्तु धारिणी के रुप का पिपासु बना हुआ वह सैनिक धारिणी की एक बात भी सुनने के लिए तैयार नहीं हुआ ।

वास्तव में कामांधता अत्यंत ही भयंकर है । कामांध व्यक्ति के विवेक चक्षु पर पटल आ जाता हैं, अपने हिताहित का विचार करने की शक्ति वह खो बैठता है ।

कामांध व्यक्ति वर्तमान का ही विचार करता हैं, भविष्य का वह सोच ही नहीं पाता है ।

धारिणी के समझाने पर भी जब वह सैनिक अपने संकल्प से पीछे हटने के लिए तैयार नहीं हुआ तो उस धारिणी ने सोचा, `अनंत पापराशि इकट्ठी होने पर आत्मा स्त्री रुप में जन्म लेती है । शील रहित स्त्री जीवन तो अत्यंत ही भयंकर है । सन्नारी के मन तो शील प्राण से भी प्यारा होता है । अतः मेरे प्राण चले जाय तो

परवाह नहीं हैं, किंतु मुझे अपना शील तो नहीं बेचना चाहियें ।' इस प्रकार विचार कर उस धारिणी ने अपनी जीभ कुचलकर आत्म हत्या कर दी ।

धारिणी के निश्चेष्ट देह को देखकर वसुमती कल्पांत रुदन करने लगी । हे माता ! तूं मुझे छोडकर कहाँ चली गई ? तेरे बिना अब मेरी क्या हालत होगी ? हे माता ! तेरे वियोग को मैं कैसे सहन कर पाऊंगी ? अब तो जो तेरी गति हुई हैं वह गति मेरी भी हो ।

हे हृदय ! `मां के वियोग में तूं फूट क्यों न गया ?' इस प्रकार वसुमती कल्पांत रुदन करने लगी ।

वसुमती के करुण रुदन ने सैनिक के कठोर दिल को पिघला दिया ।

उसने कहा, `हे सुंदरी ! तूं यह रुदन छोड दे । भवितव्यता के आगे किसी का चलता नहीं है । तूं निश्चिंत बन । मैं तुझे बहिन व बेटी समझुंगा । मेरे से भय पाने की जरुरत नहीं हैं ।' इस प्रकार वह सैनिक वसुमती को आश्वासन देने लगा ।

इधर उस सैनिक ने धारिणी के शरीर पर रहे सभी अलंकार उतार दिए और उसके मृत देह को रथ में से बाहर फेंक दिया ।

वह सैनिक वसुमती कन्या को लेकर अपने घर आया ।

घर में प्रवेश करते ही सैनिक की पत्नी ने अपने पति के साथ रही कन्या को देखा । वह सोचने लगी, जरुर मेरा पति इस कन्या को भविष्य में अपनी पत्नी बना देगा, इस प्रकार विचार कर आक्रोश करती हुई बोली, `तुम इस कन्या को उठाकर क्यों लाए हो ? मैं इसे अपनी आंखों से देख नहीं सकती हूँ यदि तुम इस कन्या को घर में रखोगे तो मैं आत्म-हत्या कर अपने जीवन को समाप्त कर दूंगी । और राजा को इस बात का पता चल गया तो वह हमारा सर्वस्व अपहरण कर लेगा ।' यदि तुम स्वेच्छा से ही इसे घर बाहर नहीं छोडोगे तो मैं राजा के पास जाकर शिकायत करुंगी ।'

पत्नी के आक्रोश भरे शब्दों को सुनकर उस सैनिक ने सोचा, `इस कन्या को घर में रखना संभव नहीं हैं, अतः क्यों न राजपथ पर जाकर इस कन्या को बेचकर जो धन मिले, वह प्राप्त कर लूं ।' इस प्रकार विचार कर वह सैनिक वसुमती को लेकर राजपथ पर खडा हो गया ।

वसुमती के अद्‌भुत रुप व लावण्य को देखकर अनेक लोग वहां इकट्ठे हो गए । कुछ वेश्याएँ भी वहां आगई ।

वेश्याएँ परस्पर बातें करने लगी ।

एक वेश्याने दूसरी वेश्या को कहा, `अपनी हाजरी में इसे खरीदने की किसकी ताकत हैं ? इसके लिए तो करोडों भी कुरबान है ।'

दूसरी बोली, `इसकी कींमत सौंप दो पूछ ले ।'

वेश्या ने कींमत पूछी ।

सैनिक ने कहा, `५०० सुवर्णमुद्राएँ ।'

वेश्या ने कहा, `लो ये ५०० मुद्राएँ और इसे ।'

सैनिक सुवर्ण मुद्राएँ गिनने लगा ।

वसुमती ने कहा, `तुम कौन हो ?'

वेश्या ने कहा, `हमारी जाति पूछने से क्या फायदा ? हमारे यहां तो राज दरबार से भी अधिक सुख है ।'

वसुमती-`अहो ! मैं तुम्हें पहिचान गई, तुम वेश्या हो, मैं किसी भी हालत में यहां से चलने वाली नहीं हूँ ।'

`अरे ! तुझे तो बेच दी गई है । अब क्यों अहंकार करती हैं ? चलती है या नहीं ?' इतना कहकर वह वेश्या वसुमती का हाथ पकड कर खींचने लगी ।

वसुमती की आंखों में आंसु आ गए । वह अपने भावि अशुभ की कल्पना से घबरा गई । तत्काल उसने प्रभु को याद किया ।

वसुमती के दिल में शील रक्षण का भाव था, अत: उसके इस शुभ भाव के प्रभाव से किसी देव ने उस वेश्या का नाक काट लिया और उसका मुंह काला कर दिया ।

यह दृश्य देख दूसरी वेश्याएँ घबरा गई और वसुमती को वैसे ही छोडकर वहां से भाग गई ।

वेश्याओं को भागते देख लोग भी परस्पर हंसने लगे ।

वह सैनिक उस वसुमती को लेकर अन्य राजपथ पर चला गया ।

वसुमती को बेचने के लिए सैनिक राजमार्ग पर खडा हो गया ।

उसी समय धनावह सेठ वहां आए और बोले, `इस कन्या का क्या मूल्य हैं ?'

सैनिक ने कहा, `५०० सोना महोर ।'

वसुमती ने कहा, `सेठ ! पहले तुम मुझे यह बतलाओं कि आपका कुल कौनसा हैं ?' और मुझे क्या काम करना पडेगा ?

सेठ ने कहा, `मेरे घर पर हमेंशा जिनेश्वर देव की पूजा होती है, जीव दया का पालन होता है । नवकार मंत्र का जाप, सात क्षेत्र में धन का दान, अभक्ष्य-भक्षण का त्याग आदि आदि हमारे कुलाचार है ।

वसुमती ने मन में सोचा `इस सेठ के घर मेरे शील-धर्म का रक्षण हो सकता है ।' इस प्रकार विचार कर वह सेठ के साथ चलने के लिए तैयार हो गई ।

सेठ ने उस सैनिक को ५०० सोना महोर दे दी । वह सेठ वसुमती को

लेकर अपने घर की ओर आगे बढा ।

घर आकर सेठ ने अपनी पत्नी मूला को कहा, `प्रिये ! इस कन्या को अपनी पुत्री समझकर इसका पालन करना । इसे किसी प्रकार का कष्ट न पडे, इसका पूरा पूरा ध्यान रखना ।'

धनावह सेठ की इस बात को सुनकर और वसुमती के रुप-लावण्य को देखकर मूला को एकदम आघात लगा ।

`अहो ! मेरे पति इस कन्या के साथ अवश्य पाणि-ग्रहण करना चाहते हैं...अभी तो इसे, बेटी ! बेटी ! करते हैं...परन्तु भविष्य में मुझे छोडकर इसे अपनी पत्नी बना देंगें । बिल्ली यदि यह कहे कि मैंनें दूध पीने का अथवा चूंहें पकडने का नियम लिया हैं तो उसकी बात को कौन सत्य मानेगा ? बस; इसी प्रकार अभी `बेटी ! बेटी ! करते हैं'...परन्तु बाद में तो मेरे लिए तकलीफ ही पैदा होगी । अरे ! इस लडकी ने तो मुझे लूंट ली है ।'

विषलता तो उगते ही काट लेनी चाहिये बस, इसी प्रकार समय रहते इसको भी मुझे निर्मूल करनी होगी, अन्यथा बाद में मुझे पछताना पडेगा ।

यद्यपि मूला सेठ की आज्ञा का प्रतिकार नहीं कर सकी...परन्तु वसुमती को अपने घर में रखने में वह प्रसन्न नहीं हुई । धीरें धीरें समय बीतने लगा । वसुमती के शांत स्वभाव के कारण सेठ उसे चंदनबाला के नाम से पुकारने लगे ।

समय के प्रवाह के साथ ही चंदनबाला का रूप व सौंदर्य भी विकसित होने लगा । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही चंद्र की सोलह कलाओं की भांति उसका सौंदर्य खिल उठा ।

एक दिन की बात है ।

किसी प्रयोजनवश मूला अपने पडोसी के घर गई हुई थी...तभी धनावह सेठ का घर में आगमन हुआ । प्रतिदिन मूला ही सेठ का पाद-प्रक्षालन करती थी...परन्तु आज सेठानी घर पर नहीं होने से पुत्रीतुल्य चंदनबाला ही अपने सेठ का पाद-प्रक्षालन करने लगी ।

चंदनबाला कुछ झुक कर सेठ का पाद-प्रक्षालन कर रही थी, तभी उसकी वेणी भूमि पर गिर पडी । सेठ ने यह दृश्य देखा । चंदनबाला की वेणी भूमि पर खराब न हो जाय, इस प्रकार विचार कर सेठ ने चंदना की वह वेणी अपने हाथों में उठा ली और उस वेणी को पुनः चंदना के मस्तक पर बांध ली । अचानक उसी समय मूला ने अपने घर में प्रवेश किया । सेठ को चंदना के सिर पर वेणी बांधते हुए देखा ।'

बस, यह दृश्य देखते ही चंदना मन ही मन आग बबुला हो उठी । ओहो !

ये सेठ मुझ बुढिया को हटाकर इस नवयौवना कन्या के साथ पाणि-ग्रहण करना चाहते है, `अब मैं भी देख लेती हूँ कि ये किस प्रकार अपनी मनोकामना पूर्ण करते है ।'

इस प्रकार विचार कर वह मूला चंदनबाला को खत्म करने के लिए योजना बनाने लगी ।

दूसरे दिन धनावह सेठ तो दुकान पर चले गए, तभी मूला ने हजाम को बुलाया और चंदनबाला के सिर का मुंडन करा दिया...उसके बाद उसके हाथ-पैरों में बेडी डालकर उस चंदनबाला को तलगृह (भोंयरे) में डाल दी और दरवाजे पर ताला लगा दिया ।

मूला सोचने लगी, `शोक्या स्त्री को मारने में कोई दोष नहीं है । अरे ! विष खाकर मर जाने में तो एक ही बार कष्ट हैं, परन्तु शोक्या के जीवित रहने पर तो जींदगी भर रोना ही रोना हैं, अतः इसको मार डालने में ही लाभ है ।'

इस प्रकार चंदनबाला को भोंयरे में डालकर मूला ने घर पर काम करनेवाले दास-दासियों को भी कडक सूचना कर दी कि यह बात सेठ तक नहीं पहुंचनी चाहियें । अगर किसी ने यह बात सेठ को बतला दी तो उसकी खैर नहीं रहेगी । इस प्रकार सूचना कर मूला अन्यत्र चली गई ।

सेठ जब दुकान से घर लौटे तब उन्होंनें भोजन के समय चंदना को नहीं देखा । सेठ ने आवाज दी...परन्तु चंदना नहीं आई । सेठ ने सोचा शायद कहीं खेल रही होगी ।

इस प्रकार तीन दिन बात गए ।

इधर चंदनबाला आपद्ग्रस्त स्थिति में भी धर्मध्यान में लीन बनकर सोचने लगी, `अहो ! मैंनें गत भव में बूरे कर्म किए होंगें-उसी के परिणाम स्वरुप आज मेरी यह दयनीय स्थिति हुई है । पाप कर्म के बिना जीवन में कभी कष्ट आते नहीं है । मैंनें गत भव में हंसते-हंसते पाप किए होंगे । उसी के परिणाम स्वरुप मेरे जीवन में कष्टों की हारमाला चालू रही है ।

बचपन में पिता का वियोग हुआ, चंपा नगरी का नाश हुआ...माता की मृत्यु हुई...और एक गुलाम की भांति मुझे बेचने के लिए बाजार में खडी की । अहो ! ऐसे संयोगों में भी मेरा इतना पुण्य अवश्य था कि मैं वेश्याओं के जाल में नहीं फंसी...अन्यथा मेरा यह जीवन बर्बाद हो जाता । आपत्तियों की हार माला के बीच भी मुझे एकांत में प्रभु के ध्यान में मग्न बनने का सुअवसर मिला ।

चंदनबाला ने अरिहंत प्रभु की शरणागति स्वीकार की और वह निर्भय होकर प्रसन्नता पूर्वक अपने जीवन में आए कष्टों को सहन करने लगी ।

तीन दिन बीतने पर भी जब चंदना का पता नहीं लगा तो सेठ ने अत्यंत ही

दबाव डालकर दास-दासियों को पूछा, `चंदना कहां गई हैं ?'

मूला के भय के कारण कोई भी दास-दासी सेठ को सत्य बात कहने में हिचकिचाहट महसुस कर रहे थे...तभी एक वृद्धा दासी ने सोचा, `यह बिचारी चंदना ऐसे ही बेमौत मर जाएगी...मैं तो वृद्ध हो चूकी हूँ...अतः मेरी मौत आ जाय तो भी कोई फर्क पडने वाला नहीं हैं...अतः क्यों न सेठ को सब सत्य बात बतला दूँ।' इस प्रकार विचार कर उस दासी ने सेठ को कहा, `सेठजी ! वह चंदना तो उस भोंयरे में बंद है।' तुरंत ही सेठ ने उस भोंयरे का ताला खोला।

जैसे ही सेठ ने मूंडित मस्तक वाली और हाथ-पैर में बेडियों से ग्रस्त चंदना को देखा...सेठ के आश्चर्य का पार न रहा। `अहो ! चंदना की यह हालत किसने की ?' इस प्रकार विचार कर चंदना को उठाकर द्वार के पास ला दी।

चंदना की दुःखी स्थिति को देखकर सेठ के दुःख का पार न रहा।

तीन दिन से भूखी ऐसी चंदना को भोजन कराने के लिए सेठ भोजन खंड में गए परन्तु वहा तो ताला लगा हुआ था। सेठ ने दासी को पूछा, `क्या कोई भोजन सामग्री तैयार है ?'

दासी ने कहा, `सेठजी ! अन्य भोजन सामग्री तो कुछ भी तैयार नहीं हैं...परन्तु उडद के बाकले तैयार है। अरे ! बाकले रखने के लिए कोई थाली भी नहीं हैं...अतः सूपडे के कोने में ही बाकले लेकर वह दासी सेठ के पास आ गई।

सेठ सोचने लगा, `अहो ! आज मैं किस स्थिति में फंस गया। पुत्री तुल्य चंदना को खिलाने के लिए अभी मेरे पास कुछ भी नहीं हैं। खैर, अभी तो इसे उडद के बाकलों से ही पारणा कराऊं...इस प्रकार विचार कर वह सूपडा चंदनबाला को दे दिया और चंदना के हाथ पैरों में रही बेडियों को तुडाने के लिए सेठ लुहार के घर चले गए।

चंदनबाला के अट्ठमतप पूर्ण हो चूका था। उस समय द्वार पर बैठी हुई वह सोचने लगी-`इसी समय कोई अतिथि मेरे द्वार पर पधारे तो उनको दान देकर फिर मैं भोजन करुं ! क्या मेरे भाग्य से ऐसा सुयोग प्राप्त होगा ?'

चंदनबाला इस प्रकार सोच रही थी, तभी महावीर प्रभु भिक्षा के लिए सामने से आते हुए दिखाई दिए। प्रभु अभिग्रहधारी थे। आज से १७५ दिन पूर्व प्रभु ने अभिग्रह धारण किया था कि `दासीपनें को प्राप्त कोई राज पुत्री, जिसका मस्तक मूंडित हो, तीन दिन के उपवास हो, हाथ-पैर में बेडियाँ हो, रोती हो, उसका एक पैर दहलीज के बाहर व एक पैर दहलीज के अंदर हो, भिक्षा समय पूरा हो गया हो, ऐसी स्थिति में सूपडे के कोने में रहे हुए उडद देगी तो मैं पारणा करुंगा।'

इस प्रकार का अभिग्रह धारण कर महावीर प्रभु प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते थे, परन्तु अभिग्रह की शर्ते पूर्ण नही होने पर प्रभु व्रापस लौट जाते और उपवास कर लेते। इस प्रकार महावीर प्रभु के १७५ उपवास पूर्ण हो चूके थे।

प्रभु की काया को कृश देखकर नगरवासियों को सतत चिंता सता रही थी। वे अन्य-अन्य उपायों द्वारा प्रभु को पारणा कराने के लिए प्रयत्न कर रहे थे...परन्तु अभिग्रह की शर्ते पूर्ण नहीं होने के कारण वे प्रभु का पारणा नहीं करा सके।

परन्तु आज चंदना का भाग्य सोलह कलाओं से खिल चूका था। यद्यपि एक ओर पापोदय के कारण मूला ने उसकी यह दुर्दशा की थी...परन्तु वह पापोदय भी चंदना के लिए तो वरदान स्वरुप ही सिद्ध हुआ था।

चंदना सूपडे के एक कोने में उडद के बाकले लेकर अतिथि की प्रतीक्षा कर रही थी। उसी समय प्रभु वहा पधारें। अपने अभिग्रह की शर्त के अनुसार चंदना की आंखों में आंसु न देखकर प्रभु वापस लौटने लगे। प्रभु को वापस लौटते देख चंदना की आंखों में आंसु आ गए! प्रभु ने अपने अभिग्रह को पूर्ण होते देखा। प्रभु वापस लौट आए। अपने अभिग्रह को पूर्ण जानकर प्रभु ने चंदनबाला के वरद हस्तों से पारणा किया। उसी समय आकाश में से पुष्प वृष्टि हुई। देवताओं ने दुंदुभि का नाद किया। आकाश में **'अहो दानं! अहोदानं'** की घोषणा हुई और १२.५ करोड सुवर्ण मुद्राओं की वृष्टि हुई।

प्रभु को दिए गए सुपात्र दान के प्रभाव से चंदनबाला के सारे बंधन टूट गए।

देवदुंदुभि का नाद सुनकर शतानिक राजा वहां पर आया।

प्रभु के दीर्घकालीन तप का पारणा कराकर चंदनबाला धन्य हो गई।

प्रभु अन्यत्र विहार कर गए।

मूला को जब इस बात का पता चला तो उसे अपने पाप का पश्चात्ताप हुआ। उसने चंदनबाला के पास क्षमा मांगी।

चंदनबाला ने कहा, 'माताजी! आपने तो मुझ पर उपकार किया है। जो हुआ सो लाभ के लिए ही हुआ है।'

भगवान महावीर प्रभु को जब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ...तब प्रभु की धर्म देशना का श्रवण कर चंदनबाला के दिल में संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ...और उसने प्रभु के दीक्षा प्रदान करने के लिए प्रार्थना की।

प्रभु ने उसकी भावना को जानकर दीक्षा प्रदान की।

महासती चंदनबाला साध्वी रत्नत्रयी की आराधना-साधना में लीन बन गई।

एक बार चरम तीर्थ पति भगवान महावीर परमात्मा का कौशाम्बी नगरी में

आगमन हुआ। उस समय अंतिम प्रहर में सूर्य-चन्द्र का विमान सहित आगमन हुआ।

संध्या काल जानकर चंदनबाला उठकर नगर-मध्य उपाश्रय में चली गई...परन्तु मृगावती साध्वी को समय का ख्याल नहीं आया और वह समवसरण में ही बैठी रही। काफी समय बाद सूर्य-चन्द्र के चले जाने से चारों ओर अंधेरा छा गया।

अंधकार में मृगावती साध्वी ने उपाश्रय में प्रवेश किया।

अंधेरे में आने पर चंदनबाला नै मृगावती साध्वी को ठपका देते हुए कहा, 'तेरे जैसी कुलीन बाला के लिए इतनी देर अंधेरे में आना उचित नहीं है। समय का ख्याल रहता चाहियें।'

मृगावती ने कहा, 'भविष्य में ऐसी भूल नहीं होगी। नाराज हुई चंदनबाला ने कुछ भी जवाब नहीं दिया। चंदनबाला गुरुणी तो संथारे में सो गई। परन्तु गुरुणी द्वारा दिए गए ठपके को सुनकर मृगावती साध्वी को अपनी भूल का तीव्र पश्चात्ताप होने लगा। वह चंदनबाला साध्वी के संथारे के पास ही बैठी रही और शुभ भाव से आत्म-निंदा करने लगी।

शुद्ध-भाव से की गई आत्म-निंदा के प्रभाव से मृगावती साध्वी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

उसी समय अंधेरे में एक काला सर्प चंदनबाला साध्वी के संथारे के पास आया। सर्प से बचाने के लिए मृगावती साध्वी ने सोई हुई चंदनबाला का एक हाथ उठाकर अन्यत्र रख दिया।

इस प्रकार हाथ का स्पर्श होने से चंदनबाला साध्वी जग गई और नाराजगी दिखाते हुए बोली, 'चल, खडी हो जा ! मेरा हाथ क्यों उठाया ?'

मृगावती साध्वी ने कहा, 'अभी अभी यहां सांप आया था, उससे बचाने के लिए ही मैंनें आपका हाथ उठाया था।'

चंदनबाला ने पूछा, 'यह तुझे कैसे पता लगा ?'

मृगावती ने कहा, 'ज्ञान से।'

कौनसा ज्ञान प्रतिपाति या अप्रतिपाति ?

मृगावती ने कहा, 'अप्रतिपति।'

बस, इस बात को सुनते ही चंदनबाला ने सोचा, 'अहो ! मृगावती साध्वी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है। मैंनें इन्हें ठपका देकर इनकी घोर आशातना की है।'

चंदनबाला ने मृगावती साध्वी के पास सच्चे दिल से क्षमा याचना की।

इस क्षमा याचना के प्रभाव से चंदनबाला साध्वी को भी केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

3 शीलवती मदनरेखा

भरत क्षेत्र !

सुदर्शन पुर नगर !

मणिरथ राजा और युगबाहु युवराज ।

युवराज युगबाहु की पत्नी का नाम था मदनरेखा । मदनरेखा के जीवन में रुप और गुण का अद्‌भुत संमिश्रण था । दुनियाँ में स्त्रियाँ तो बहुत होती हैं, परन्तु किसी स्त्री में सिर्फ रुप होता हैं तो गुण नहीं और किसी स्त्री में गुण होते है तो रुप नहीं । रुप व गुण का संयोग सभी स्त्रियों में देखने को नहीं मिलता है । मदनरेखा में रुप व गुण का अद्‌भुत संगम था ।

कामातुर पुरुष रुप के पिपासु होते है, गुण के नहीं । आग से आकर्षित बना पतंगा आग में जलकर भस्मीभूत हो जाता हैं, बस, इसी प्रकार कामातुर व्यक्ति भी रुप में अंध बनकर अपने ज़ीवन को पतन के गर्त में डूबा देता है ।

मणिरथ सत्ताधीश होते हुए भी रुप का पिपासु था । राजा तो न्यायप्रिय और सदाचारी होना चाहिये...परन्तु मणिरथ के जीवन में सदाचार की बहुत बडी कमी थी...और इसी कारण जब एक दिन उसने मदनरेखा के अद्‌भुत रुप सौंदर्य को देखा और वह उस रुप का पिपासु बन गया । उसके अन्तर्मन में मदनरेखा को अपनी पत्नी बनाने की इच्छा पैदा हो गई । वह मदनरेखा के रुप पर अत्यंत ही मोहित हो गया । किसी भी उपाय से वह उसे अपनी बनाने के लिए सोचने लगा ।

आखिर उसे लगा, `यदि मैं मदनरेखा को कींमती भेंटें दूंगा तो धीरे धीरे वह अवश्य मेरी बन जाएगी ।' बस, इस प्रकार का मनोमन निर्णय कर उसे जो भी मूल्यवान् वस्तुएँ भेंट में प्राप्त होती, वे वस्तुएँ मदनरेखा के पास भिजवा देता ।

मदनरेखा उन वस्तुओं को सहर्ष स्वीकार कर देती । उसके मन में किसी प्रकार का पाप नहीं था । वह तो यही सोचती कि मेरे पिता तुल्य ज्येष्ठ मुझे ये वस्तुएँ भिजवा रहे है । परन्तु एक दिन उस महासती मदनरेखा का वह भ्रम टूट गया । जिस दिन मणिरथ राजा की दासी अमूल्य भेंट लेकर आई और मदनरेखा को भेंट देती हुई बोली, `महाराजा मणिरथ आपके अद्‌भुत रुप और लावण्य से अत्यंत ही आकर्षित बने है । आपके जैसा अद्‌भुत रुप उन्होंनें दुनियाँ में कहीं नहीं देखा । वे भरपेट आपके रुप की प्रशंसा करते है । अब तक तो वे मात्र तुम्हारें रुप के ही पिपासु थे, जब कि वे अब तुम्हारा संग चाहते है । यदि तुम अपनी सम्मति दे दोगे तो वे तुम्हें अपनी पट्टरानी का पद-प्रदान कर देंगें । बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा हैं ?'

एक दासी के **मुख से इस प्रकार की बातों को** सुनकर मदनरेखा तो एकदम आश्चर्य में डूब गई। वह **सोचने लगी**, `**अरे ! यह क्या** ? **वे** तो मेरे लिए पिता तुल्य है। वे इस प्रकार की गलत इच्छाएँ कैसे कर रहे हैं ? वे तो राज-सिंहासन पर आसीन हैं, यदि वें ऐसा पाप करेंगें तो प्रजाजनों की क्या हालत होगी ? **'यथा राजा तथा प्रजा'** जैसा राजा होता हैं, वैसी प्रजा होती है। राजा सदाचारी, नेक व ईमानदार होगा तो प्रजा भी वैसी ही होगी...और राजा ही यदि चारित्र-भ्रष्ट हो गया तो प्रजाजनों की भी वो ही हालत होने वाली है।' इस प्रकार विचार कर मदनरेखा ने कहा, `तूं जाकर अपने स्वामी (राजा) को कहना कि इस लोक व परलोक उभयलोक में निंदनीय ऐसा अपकृत्य करने के लिए आप कैसे तैयार हो गए ? क्या आपको लोक निंदा और परलोक में दुर्गति का भय नहीं हैं ? परस्त्री की इच्छा करना भयंकर अपराध है। ऐसा कुकर्म करने की इच्छा भी कैसे हुई ? अभी भी आप अपने अशुभ विचार से पीछे हट जाय...इसी में आपका हित रहा हुआ है।'

दासी ने जाकर ये सारी बातें राजा को सुना दी। परन्तु कामांध बना मणिरथ अपने मिथ्या संकल्प से पीछे हटने वाला कहां था ? वह सोचने लगा, `आज नहीं तो कल, मैं अवश्य ही मदनरेखा को अपनी बनाऊंगा। पहले प्रयास में भले ही उसने मना कर दिया...परन्तु मुझे अपना प्रयास नहीं छोडने का है। आज नहीं तो कल, मुझे अवश्य सफलता मिलेगी।' इस प्रकार विचार कर कुछ दिनों के बाद मणिरथ ने पुनः दूसरी बार अपनी अपनी दासी मदनरेखा के पास भेजी।

इस बार मदनरेखा ने उस दासी की खूब भर्त्सना की और उसे ठपका देते हुए कहा, `इस प्रकार के भयंकर पापाचार में सहयोग प्रदान कर तूं भी अपना अहित ही कर रही है।'

सती स्त्री तो हमेंशा एक ही पुरुष को अपना वर समझती हैं...अन्य पुरुष तो उसके लिए भाई तुल्य है। पर-स्त्री संग करनेवाला पुरुष नरक में जाता हैं, उसी प्रकार पर पुरुष का संग करनेवाली स्त्री भी नरकगामी बनती है।

अनंत पाप राशि जब इकट्ठी होती हैं, तब आत्मा, स्त्री रुप में अवतरित होती है। उस स्त्री देह को पाकर भी जो स्त्री, शील-धर्म का पालन नहीं करती हैं, वह तो नरकगामी ही है। ओ दासी ! तूं अपने स्वामी को जाकर कह देना-**'विनाश काले विपरीत बुद्धि'** की तरह आपको यह गलत विचार आया है। अभी भी यदि आप अपने गलत मार्ग से पीछे नहीं होंगें तो याद रखना आप मदनरेखा के जीवित देह को छू भी नहीं सकोगे। इस देह में जब तक प्राण हैं तब तक मदनरेखा आपकी नहीं हो सकती....आप मदनरेखा के मुर्दे को जरुर पा सकते हैं किंतु जीवित

मदनरेखा को तो किसी भी हालत में नहीं पा सकोगे ।'

दासी ने जाकर ये सारी बातें राजा को कह दी ।

मणिरथ ने सोचा, 'जब तक युगबाहु जिंदा हैं तब तक मदनरेखा मेरी कैसे हो सकेगी ? हाँ ! युगबाहु की हत्या कर दूँ तो आखिर वह मेरी जाएगी । फिर तो उसे अनिच्छा से भी मुझे स्वीकार करना ही पडेगा ।' इस प्रकार विचार कर मणिरथ, युगबाहु की हत्या के लिए षड्यंत्र रचने लगा । मणिरथ युगबाहु के छिद्र देखने लगा । अनेक उपाय सोचने पर भी उसे ऐसा कोई उपाय हाथ नहीं लगा, जिसके द्वारा वह युगबाहु की हत्या कर सके ।

ओहो ! कामांधता कितनी भयंकर वस्तु है । एक सगे भाई का खून करने के लिए भी मणिरथ तैयार हो गया ? कामांध व्यक्ति के चर्म चक्षु भले ही खुले रहते होंगें...परन्तु उसके विवेक चक्षु पर तो अवश्य ही आवरण आ जाता है । वह अपने भावि हिताहित का विचार नहीं कर पाता है ।

एक दिन रात्रि में मदनरेखा ने स्वप्न में पूर्णचन्द्र देखा । प्रातःकाल होने पर मदनरेखा ने अपने स्वामी को स्वप्न दर्शन की बात की । युगबाहु ने कहा, 'प्रिये ! तूं चन्द्र के समान अति उज्ज्वल और सौम्य प्रकृति वाले पुत्ररत्न को जन्म देगी ।'

हर नवोढा कन्या में माता बनने का स्वप्न होता है । पुत्र जन्म की बात सुनकर मदनरेखा प्रसन्न हो गई । उसका हृदय आनंद से भर आया । क्रमशः तीन मास व्यतीत होने पर गर्भ के प्रभाव से उसे उत्तम दोहद पैदा हुए । उसे जिनेश्वर परमात्मा की पूजा-भक्ति, अंगरचना, गुरु-भक्ति एवं धर्म श्रवण के दोहद उत्पन्न होने लगे । युगबाहु ने उसके सारे दोहद पूर्ण किए ।

एक दिन वसंत ऋतु में युगबाहु अपनी पत्नी मदनरेखा के साथ क्रीडा के लिए उद्यान में गया । दिन में विविध प्रकार की क्रीडाएँ कर संध्या समय युगबाहु अपनी पत्नी के साथ वार्ता विनोद करता हुआ अशोक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था ।

इधर मणिरथ युगबाहु की हत्या के लिए अनेक विकल्प कर रहा था...तभी एक विचार उसके दिमाग में कोंध उठा । वह गुप्त रुप से तलवार लेकर उद्यान में पहुँच गया । उसने सोचा, 'उद्यान में युगबाहु व मदनरेखा सिर्फ दो ही हैं, अतः युग बाहु की हत्या करना मेरे लिए आसान होगा' बस, इस प्रकार विचार कर मणिरथ उद्यान में युगबाहु की ओर आगे बढा । इधर युगबाहु व मदनरेखा ने जैसे ही मणिरथ को सामने से आते हुआ देखा । वे दोनों अपने वस्त्रों को व्यवस्थित कर अपने आसन पर से खडे हो गए ।

'बडे भैय्या ! अचानक कैसे आना हुआ ?' युगबाहु ने सीधा प्रश्न किया ।

'बंधुवर्य ! मदनरेखा अभी सगर्भा हैं, ऐसी स्थिति में यहां रात्रि-विश्राम के लिए रहना उचित नहीं है । मैं तुम्हें राजमहल में लेने के लिए ही आया हूँ ।'

दोनों भाइयों के बीच परस्पर वार्तालाप चल रहा था...तभी अवसर देखकर मणिरथ ने कमर में छुपाई कटार बाहर निकाल दी...और एक क्षण की भी देरी किए बिना मणिरथ ने युगबाहु की छाती में वह कटार भोंक दी । उसी समय युगबाहु धरती पर ढल पड़ा । उसके सीने में से खून की धारा बहने लगी । अपने पाप का भंडा फूट न जाय, इस प्रकार विचार कर मणिरथ उद्यान के दूसरे भाग में चला गया ।

ओहो ! कामांधता कितनी भयंकर वस्तु है ? जिसके अत: पुर में स्त्रियों की कोई कमी नहीं थी, फिर भी भाई की पत्नी के रुप में पागल बना हुआ मणिरथ अपने सगे भाई का खून करने के लिए तैयार हो गया ।

पापी व्यक्ति पाप-कार्य में सफलता मिलने पर खुश होता है, परन्तु उसे पता नहीं हैं कि उसका यह पाप उसी को भस्मसात् कर देगा ।

मदनरेखा को अपनी बनाने के लिए अपने सगे भाई की हत्या करने वाला मणिरथ एक वृक्ष के नीचे आराम के लिहाज से सो गया ।...परन्तु उसी समय किसी विषैले सांप ने उसे डंख मारा और उसी समय उसकी मृत्यु हो गई ।

मणिरथ को मदनरेखा नहीं मिली...परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए किए गए पाप के फलस्वरुप उसे मौत की भेंट अवश्य मिल गई ।

2. सच्ची धर्मपत्नी

पति को धर्म मार्ग में स्थिर करनेवाली पत्नी ही वास्तव में धर्मपत्नी कहलाती है । आर्य देश में पति-पत्नी का संबंध केवल शारीरिक संबंध के लिए नहीं, बल्कि वे एक-दूसरे को धर्म-मार्ग में सहायक बन सके...वे एक-दूसरे के कल्याण मित्र बन सके...यह मुख्य उद्देश्य लग्न-संबंध में समाया होता है ।

मणिरथ ने युगबाहु की छाती में कटार भोंक दी थी । मर्मस्थल पर घाव लगने से युगबाहु की वेदना का कोई पार नहीं था । उसे मणिरथ का ख्याल आ गया । मणिरथ के इस कुकृत्य को जानते ही युगबाहु की आँखें क्रोध से लाल हो गई । यद्यपि वह मणिरथ का प्रतिकार करने में सक्षम नहीं था, फिर भी उसके अन्तर्मन में क्रोध की ज्वालाएँ भडक उठी थी ।

अपने स्वामी की मरणासन्न अवस्था देखकर मदनरेखा को अपने कर्तव्य का भान हो आया । वह सोचने लगी, 'स्वामी की मृत्यु की पले अत्यंत ही निकट

हैं...ऐसी परिस्थिति में यदि क्रोधावस्था में ही अपने प्राण छोड देंगें...तो उनकी दुर्गति हो सकती हैं...अतः उन्हें समाधि में स्थिर करना मेरा परम कर्तव्य है।' इस प्रकार विचार कर अपने स्वार्थ को पूर्णतया गौणकर एक कल्याण मित्र की अदा से मदनरेखा अपने स्वामी को समझाती हुई बोली, 'हे स्वामिन् ! आप क्रोध का त्याग कर दे। मृत्यु की अंतिम पले नजदीक आ रही है। अंतिम समय में जैसे विचार होते हैं, उसी के अनुसार आत्मा की सद्गति-दुर्गति निश्चित होती हैं, अतः आप अपने आत्महित के लिए क्रोध का त्याग कर दे। सचमुच, मणिरथ ने आपकी हत्या नहीं की हैं, मणिरथ तो निमित्त मात्र है। हत्या तो अपने ही पाप कर्म के उदय का फल है। मृत्यु की घडियाँ तो परीक्षा की घडियाँ है। इस समय आप अपने मन को समाधि भाव में स्थिर कर दे। मणिरथ तो बेचारा हैं...अज्ञानी हैं, उसे यह पता नहीं हैं कि युगबाहु की हत्या करने पर भी मदन रेखा कभी भी मेरी होने वाली नहीं है।

स्वामिन् !

इस भव में अथवा पूर्व भव में जीव ने जैसे कर्म किए होते हैं, उसी के अनुसार उसको सजा भुगतनी पडती हैं, दूसरे जीव तो सिर्फ निमित्त मात्र होते है। मुख्य दोष तो अपने ही कर्मो का होता है।

इस संसार में किसी भी व्यक्ति या वस्तु पर मोह करने जैसा नहीं हैं, वह मोह तो आत्मा का अनंत संसार बढाने वाला है। पुत्र-पत्नी आदि चेतन पदार्थ व सोना-चांदी-हीरा-मोती माणेक आदि अचेतन पदार्थों में मोहित बनकर आत्मा ने अपने आपको भयंकर नुकसान ही पहुँचाया है।

हे स्वामिन् ! परलोक में भी जो अपने साथ चल सके, ऐसा धर्म-पाथेय आप एकत्रित करे। बाकी, इस दुनिया की चिंता आप छोड दे।

सर्व प्रथम आप अपने समस्त दृष्कृतों की गर्हा करे। जान बुझकर या अनजान में मन, वचन और काया से जो भी पाप हो गए है। उसके लिए आप **'मिच्छामि दुक्कडम्'** प्रदान करे।

महासती मदनरेखा के आत्म हितकर इन शब्दों का युगबाहु पर जादुई असर हुआ। युगबाहु का आवेश शांत हो गया...अपनी अंतिम स्थिति जानकर वह भी अंतिम साधना के लिए तैयार हो गया।

युगबाहु ने मणिरथ के प्रति रही वैर भावना व बदले की भावना को मन में से दूर कर दी। वह शांत चित्त से सर्व जीवों के साथ क्षमा याचना करने के लिए तैयार हो गया।

मदनरेखा ने कहा, 'इस जगत् में अपना कोई भी शत्रु या मित्र नहीं है।

शत्रु और मित्र तो अपना ही कर्म है । इस जगत् में अपनी आत्मा को दु:ख देने वाला कोई नहीं है । अपने ही किए हुए कर्मों की सजा हमें भुगतनी पडती है । जब इस आत्मा ने हंसते-हंसते पाप कर्म बांधे है तो उन कर्मों की सजा भी उसे हंसते-हंसते स्वीकार करनी चाहिये ।

इस संसार में अपना कोई दुश्मन नहीं हैं फिर भी कर्म संयोग से कोई दुश्मन बने हो तो उन सबके साथ क्षमा याचना कर लो ।

मित्र हो या दुश्मन । स्वजन हो तो अरिजन ! उन सब के साथ क्षमा याचना करो । संसार में भटकती हुई अपनी आत्मा ने अन्य जीवों को अनेक बार पीडा पहुँचाई हैं । पशु के भव में अन्य पशुओं को पीडा पहुँचाई हो, मनुष्य के भव में अन्य मनुष्य-तिर्यंचों को पीडा पहुँचाई हो, नारक के भव में अन्य नारक जीवों को कष्ट दिया हो और देव भव में अन्य देवों से ईर्ष्या आदि भाव रखा हो तो उन सब के साथ क्षमा याचना कर लो ।

हे स्वामिन् ! मनुष्य भव का आयुष्य तो जल-तरंग की भांति अत्यंत ही चंचल है । यौवन का सौंदर्य भी अल्पकालीन हैं, लक्ष्मी पवन की भांति अस्थिर हैं, रुप का सौंदर्य भी अल्पजीवी है तथा प्रिय का समागम भी सदैव रहने वाला नहीं है । अत: इन सब की प्राप्ति में खुश होने जैसा नहीं है ।

जन्म, जरा और मृत्यु, आधि-व्याधि और उपाधि, रोग-शोक और भय से ग्रस्त प्राणियों के लिए जिन धर्म को छोडकर अन्य कोई शरणभूत नहीं है । जगत् का एक भी भौतिक पदार्थ आत्मा को शरण देने में समर्थ नहीं है । जो पदार्थ स्वयं नश्वर हो, वे अन्यों का रक्षण करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ? एक मात्र जिनेश्वर भगवंत के द्वारा बताया हुआ जिन धर्म ही आत्मा को शरण देने में सक्षम है ।

इस संसार में जीव अकेला ही आया है और अकेला ही जाने वाला है । अपने शुभ-अशुभ कर्मों की सजा भी जीवात्मा अकेली ही सहन करती हैं, अत: जगत् के अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व भाव धारण करने का कोई अर्थ नहीं है । वे बाह्य-पदार्थ आत्मा को सुख देने में कतई समर्थ नहीं है ।

आप अपनी आत्मा को एकत्व भाव से भावित करते हुए समझाए कि **'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं किसी का नहीं हूँ ।'** इस प्रकार बारबार अपनी आत्मा को अनुशासित करे ।

मदनरेखा के उपदेश को सुनकर युगबाहु शुभ ध्यान में स्थिर बना और अत्यंत ही समाधि पूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर पांचवें ब्रह्मदेव लोक में देव के रुप में

उत्पन्न हुए ।

3. शीलरक्षा !!

युगबाहु को समाधि प्रदान कर मदनरेखा ने धर्मपत्नी व कल्याण मित्र का कर्तव्य अदा किया...परन्तु अब पुनः उसके सामने अपने शील रक्षण की बडी समस्या खडी थी । उसने सोचा, `यदि मैं राजमहल में जाऊंगी तो वह कामी मणिरथ मेरे शीलभंग के लिए अनुचित कदम उठा सकता हैं, अतः क्यों न राजमहल का त्याग कर जंगल की ओर ही चली जाऊं ?' बस, इस प्रकार विचार कर घोर अंधेरी रात्रि में ही भयंकर जंगल की ओर उसने अपने कदम उठा दिए । वह द्रूत गति से जंगल की ओर आगे बढने लगी ।

महासती स्त्री के मन, प्राण से भी शील अधिक प्यारा होता है । अपने शील रक्षण के लिए मदनरेखा ने अपने प्राणों की भी परवाह नहीं की ।

यद्यपि जिस समय उसने जंगल की ओर कदम उठाया था, उस समय वह सगर्भा थी । एक ओर प्रसूति का काल निकट आ रहा था । परन्तु उसके मन शील की अत्यधिक कींमत थी ।

आज की नारी क्षणिक सुख व धन के चंद टूकडे के लोभ में फंसकर अपने शील को लूंटाने के लिए तैयार हो जाती हैं । वर्तमान नारी-समाज की यह कैसी दुर्दशा हैं ? शील को कीमती समझने वाली मदनरेखा ने अपने समस्त सुखों को न्यौछावर कर दिया था । सुकोमल सुख-शय्या, सेवा में तत्पर दास-दासी, सानुकूल-भोजन-वस्त्र-मकान आदि आदि सभी सुखों को वह लात मारने के लिए तैयार हो गई थी ।

जंगल के फल-फूल खाकर व बहते झरनों का मीठा जल पीकर भयंकर जंगल में मदनरेखा ने सात दिन व्यतीत किए । आठवें दिन उसने चन्द्र के समान अत्यंत सौम्य मुखाकृतिवालें पुत्ररत्न को जन्म दिया । **'एक से दो भले'** की कहावत के अनुसार पुत्र को प्राप्त कर मदनरेखा अत्यंत प्रसन्न हो गई । उसका हृदय प्रसन्नता से भर आया । परन्तु उसे कहां पता था कि कर्मसत्ता तुझ पर भयंकर जुल्म करने के लिए तैयार बैठी है ।

कंबलरत्न में पुत्र को लिपटकर मदनरेखा अपनी शरीर शुद्धि के लिए नदी तट पर जा पहुँची...उसने देह-स्नान के लिए नदी में प्रवेश किया...और उसके दुर्भाग्य से जल हस्ती ने उसे अपनी सूंढ में पकडकर आकाश में उछाल दी । उसी समय एक विद्याधर आकाश मार्ग से नंदीश्वर द्वीप की ओर जा रहा था...उस

विद्याधर ने आकाश में से गिरती हुई मदनरेखा को ग्रहण कर ली उसे अपने विमान में रख दी ।

मदनरेखा के अद्‌भुत रुप-लावण्य और देह सौंदर्य को देखकर वह विद्याधर कामातुर हो गया ।

एक आपत्ति के टलने के साथ ही आई हुई दूसरी आपत्ति को जानकर मदनरेखा विह्वल हो गई । पुत्र-वियोग की वेदना से जोर से आक्रंद करने लगी ।

तभी आश्वासन देते हुए उस विद्याधर ने मदनरेखा को रुदन का कारण पूछा ।

मदनरेखा ने कहा, `कुछ समय पूर्व ही मैंनें एक बालक को जन्म दिया हैं, वह बालक कदली वृक्ष के नीचे रहा हुआ है । वह बालक मेरे वियोग को कैसे सहन कर पाएगा...अतः तुम मुझे मेरे पुत्र के पास ले चलो ।'

`सुंदरी ! पहले तुम मुझे पति के रुप में स्वीकार कर लो...फिर तुम जैसा चाहोगी, वैसा मैं करने के लिए तैयार हो जाऊंगा ।'

मदनरेखा ने सोचा, `अहो ! कर्म की गति न्यारी है । मणिरथ के जाल में से बचने के लिए मैं जंगल की ओर चल पडी...तो यहां भी यह आपत्ति आ खडी हुई...अब तो मुझे किसी युक्ति से अपने शील का रक्षण करना होगा ।' इस प्रकार विचार कर मदन रेखा ने कहा, `आप कौन है ? और कहाँ जा रहे हैं ?

विद्याधर ने कहा, `मैं वैताढय पर्वत के रत्नावह नगर के महाराजा मणिचूड का पुत्र मणिप्रभ हूँ ।' वैराग्य वासित बने मेरे पिता ने मुझे राजगद्दी पर स्थापित कर चारण मुनि के पास भागवती दीक्षा स्वीकार की है । वे नंदीश्वर द्वीप की यात्रा के लिए गए हुए हैं...मैं भी पिता मुनि को वंदन करने के लिए नंदीश्वर द्वीप जा रहा था...तभी बीच मार्ग में तुमको आकाश में से गिरती हुई देखी...मैं तुम्हारें रुप-सौंदर्य पर मोहित हूँ...तूं मुझे पति के रुप में स्वीकार कर दे । मैं तुम्हें पट्टरानी का पद प्रदान कर दूंगा ।'

मदनरेखा ने सोचा, `मणिप्रभ का कुल तो उत्तम हैं...इसके पिता ने दीक्षा अंगीकार की हैं, अतः पुनः योग्य आलंबन मिले तो वह सन्मार्ग में स्थिर हो सकता हैं ।' इस प्रकार विचार कर मदनरेखा ने कहा, `मैं अपने पुत्र बिना नहीं रह सकूंगी, मेरे पुत्र को तुम यह ले आओ ।'

मणिप्रभ ने कहा, `प्रज्ञप्ति विद्या के बल से मैंनें तुम्हारें पुत्र की स्थिति को देखा है । मिथिलापुरी के महाराजा पद्मरथ विपरीत शिक्षित घोडे पर बैठने के कारण दूर सुदूर जंगल में आ गए थे । अचानक बालक के रुदन के स्वर को सुनकर वे उस बालक के पास आए । जंगल में एकाकी बालक को देखकर वे आश्चर्य में डूब गए ।

वे स्वयं नि:संतान थे...अत: नवजात शिशु को देखकर खुश हो गए...उन्होंनें उस बालक को उठा दिया । उस बालक को लेकर अपने राजमहल में गये है । उन्होंने वह बालक अपनी पत्नी पुष्पमाला को सौंप दिया । वह पुष्ममाला पुत्र को पाकर खुश हो गई । वह बालक राज महल में सुखी है । उसकी तुम लेश भी चिंता मत करो ।'

मणिप्रभ की इस बात को सुनकर कालक्षेप करने के लिए मदनरेखा ने कहा, 'पहले तुम मुझे नंदीश्वर द्वीप की यात्रा और पिता मुनि के दर्शन करा दो...उसके बाद तुम्हारी प्रार्थना पर विचार करुंगी ।'

मदनरेखा के इन आश्वासन भरे शब्दों को सुनकर वह विद्याधर खुश हो गया । उसे अपनी मनोकामना पूर्ण होते नजर आने लगी ।

विद्याधर ने वह विमान नंदीश्वर द्वीप की ओर आगे बढाया । कुछ समय में ही वह विमान नंदीश्वर द्वीप पहुंच गया । मणिप्रभ व मदनरेखा दोनों विमान में से बाहर आए ।

मदनरेखा ने अंजन पर्वत पर आए हुए चार जिन मंदिर, दधिमुख पर्वत पर रहे सोलह और रतिकर पर्वत पर रहे बत्तीस जिन मंदिरों के दर्शन किए । ये मंदिर १०० योजन लंबे, ५० योजन चोडे और ७२ योजन ऊंचे थे । उन शाश्वत जिनमंदिरों में ऋषभ, चंद्रानन, वारिषेण और वर्धमान स्वामी की शाश्वत जिन प्रतिमाएँ थी । मदनरेखा ने अत्यंत ही भाव पूर्वक उन प्रतिमाओं के दर्शन किए ।

मंदिर दर्शन के बाद वे दोनों मणिप्रभ मुनि के पास पहुँचे । मणिप्रभ मुनि उस समय धर्म देशना दे रहे थे । वे दोनों धर्म देशना सुनने के लिए बैठ गए ।

चार ज्ञान के धारक मणिप्रभ मुनि ने अपने ज्ञान के बल से कुकर्म में प्रवृत्त अपने पुत्र मणिप्रभ की मन: स्थिति को जान लिया ।

अपने पुत्र को अकार्य से रोकने के लिए मणिप्रभ मुनि ने अपनी वैराग्य सभर धर्म देशना में कहा, **'हे भव्यात्माओं । यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो और आत्मा को दुर्गति पात से बचाना चाहते हो तो परस्त्री गमन के पाप से अपने आपको बचाना चाहिये ।'**

परस्त्री गमन की इच्छा करने से पुरुष नरक में जाता हैं और अन्य पुरुष का सेवन करने से स्त्री मरकर नरक में जाती है ।

भोग में क्षण भर का सुख है और उसके परिणाम स्वरुप जीवात्मा को परलोक में भयंकर यातनाएँ सहन करनी पडती है ।

बिल्ली दूध को देखती है किंतु दंड को नहीं । पक्षी अनाज को देखते हैं किंतु पत्थर को नहीं । बस, इसी प्रकार जीवात्मा को भोग में सुख नजर आता

है, परन्तु उसका कटु परिणाम नजर नहीं आता है ।

पर स्त्री गमन के पाप के कटु परिणाम को जानकर मणिप्रभ का हृदय एकदम कांप उठा...उसी समय उसे अपनी भूल समझ में आई...वह अपने स्थान से खडा हुआ । उसने मदनरेखा के पास क्षमायाचना की और बोला, `हे मदनरेखा ! आज से तूं मेरे लिए बहिन तुल्य है । मैं तुम्हारा क्या उपकार करुं ?'

मणिप्रभ के हृदय परिवर्तन को जानकर मदनरेखा खुश हो गई । उसने सोचा, `चलो शील पर आया एक और संकट दूर हो गया ।'

मदनरेखा ने कहा, `इस शाश्वत तीर्थ धाम की यात्रा कराकर तुमने मुझ पर महान् उपकार किया है...अतः तुम मेरे परम बंधु हो ।'

मदनरेखा ने मणिप्रभ मुनि को अपने पुत्र की कुशलता पूछी ।

वे मुनि मदनरेखा के पुत्र की खुशहाली की बात कर रहे थे उसी समय आकाश मार्ग से एक देदीप्यमान विमान का अवतरण हुआ...चंद क्षणों में ही उस विमान में से अत्यंत तेजस्वी देव बाहर आया । बाहर आकर उस देव ने महासती मदनरेखा को तीन प्रदक्षिणा दी और उसके बाद उस देव ने मदनरेखा के चरणों में भाव पूर्वक नमस्कार किया । तत्पश्चात् उसने मुनि के चरणों में प्रणाम किया । प्रणाम कर वह देव मुनि की धर्मदेशना सुनने के लिए बैठ गया ।

गुरु को वंदन करने के पूर्व मदनरेखा को किए गए प्रणाम को देखकर मणिप्रभ को अत्यंत ही आश्चर्य हुआ ।

उसने सोचा, `ये मुनिवर तो संसार के त्यागी और चार ज्ञान के धारक हैं, जब कि यह मदनरेखा तो संसारी हैं....एक त्यागी मुनिवर को छोडकर एक संसारी स्त्री को पहले नमस्कार करना कहां तक उचित है ? क्या देवता गण आचार-मर्यादा नहीं जानते हैं ? फिर इस देव ने यह भूल क्यों की होगी ?' इस प्रकार विचार कर मणिप्रभ ने परम ज्ञानी अपने पिता मुनि को प्रश्न करते हुए पूछा, `प्रभो ! इस देव ने यह गलत व्यवहार क्यों किया ?'

मुनिवर ने कहा, ` मुझ से पहले मदनरेखा को प्रणाम कर इस देव ने कोई भूल नहीं की है । उसका यह व्यवहार उचित ही है । यह देव पूर्वभव में इस मदनरेखा का पति युगबाहु था । अपने सगे भाई ने जब युगबाहु पर निर्दयता से प्रहार किया, तब इस मदनरेखा ने ही उसे धर्मोपदेश द्वारा समाधि प्रदान की थी...और इसी के फलस्वरुप वह युगबाहु मरकर देव बना है ।

`जो जिसको सद्धर्म में स्थापित करता हैं, वह गृहस्थ हो या साधु, उसका धर्म गुरु कहलाता है । जिसने सम्यक्त्व का दान किया है, वास्तव में उसने मोक्ष

सुख प्रदान किया है। समकित दाता का उपकार अपरंपार है। अन्य किसी उपकार से उसकी तुलना नहीं हो सकती है।

समकित दाता के उपकार का बदला अनेक भवों तक सेवा-शुश्रुषा करने पर भी चुका नहीं सकते है। समकित दाता का उपकार दुष्प्रतिकार कहा गया है।

मुनि भगवंत के मुख से जिनधर्म के इस अद्‌भुत रहस्य को सुनकर मणिप्रभ विद्याधर की शंका का समाधान हो गया। मणिप्रभ ने उस नूतन देव के पास अपनी भूल की क्षमा याचना की।

4. दीक्षा स्वीकार

उत्तम पुरुष अपने उपकारी के उपकार के बदले को चुकाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है।

उस नूतनदेव ने मदनरेखा को कहा, 'तुम अपनी मनोकामना व्यक्त करो, मैं उसे पूर्ण करने की कोशिश करुंगा।'

मदनरेखा ने कहा, 'हे देव! वासत्विक दृष्टि से तो तुम मेरा प्रिय करने में समर्थ नही हो, क्यों कि तुम अविरत हो...जब कि मुझे तो जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, आधि-व्याधि व उपाधि से रहित एक मात्र मोक्ष सुख ही पसंद है। वह मोक्ष सुख प्रदान करने की तुम्हारे में ताकत नहीं है। फिर भी आपने पूछा हैं तो 'मुझे शीघ्र मिथिला नगरी में ले जाओ...जहां अपने पुत्र के मुख दर्शन कर मैं भी चारित्र धर्म स्वीकार करुं।'

मदनरेखा ने मिथिला ले जाने के लिए जैसे ही अपनी भावना व्यक्त की...वह देव तत्क्षण तैयार हो गया। कुछ ही समय में वह देव मदनरेखा को मिथिला नगरी में ले आया।

मिथिला नगरी में मल्लिनाथ प्रभु के जन्म, दीक्षा व केवलज्ञान कल्याणक हुए है। ऐसी पवित्र नगरी में रहे जिनमंदिरों के दर्शन कर मदनरेखा और युगबाहु देव साध्वीजी भगवंत के पास गए। उन्होंने साध्वीजी भगवंत को प्रणाम किया।

साध्वीजी भगवंत ने धर्मोपदेश देते हुए कहा, 'हे पुण्यात्मन्! मनुष्य भव को प्राप्तकर क्षणभर भी प्रमाद नहीं करना चाहियें। आत्महित की साधना सिर्फ मानव भव में ही संभव है। उस साधना के लिए अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है, अतः प्रमाद से सदैव दूर रहना चाहिये। पुत्र, पत्नी व शरीर आदि के निमित्त जीवात्मा इस संसार में अनेक प्रकार के पाप करती हैं...और उन पापों की सजा उसे अकेले

ही नरक में सहन करनी पडती है । मोह में अंध बनी आत्मा प्रयत्न पूर्वक पाप का आचरण करती है और अवसर हाथ लगने पर भी धर्म नहीं करती है । मनुष्य लोक में यह कितना आश्चर्य है कि अमृत समान धर्म की साधना सुलभ होने पर भी यह जीव विष के कटोरे समान पाप का आचरण करता है ।

साध्वीजी भगवंत की इस धर्मदेशना की समाप्ति के बाद उस देव ने मदनरेखा को कहा, `चलो, अब राज भवन में जाते है । वहां जाकर अपने पुत्र का मुख दर्शन पर लो ।'

मदनरेखा ने कहा, `अब मुझे पुत्र के मुख दर्शन का भी मोह नहीं रहा है । पुत्र का मोह तो संसार को बढाने वाला है । इस संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने सभी संसारी जीवों के साथ सभी प्रकार के पुत्र, माता-पिता आदि के संबंध किए हैं । इस अनंत संसार में यह मेरा अनंत बार पुत्र हुआ है और मैं अनंत बार माता बनी हूँ । भूतकाल में हुए उन संबंधों को आज कौन याद करता हैं ?

यह संसार वास्तव में स्वप्न तुल्य ही है । `मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ?' इस प्रकार विचार किया जाय तो संसार का मोह तत्काल क्षीण हो सकता है ।

अब मुझे इस संसार में रहने की इच्छा नहीं है । अब तो इन साध्वीजी भगवंत के चरण ही मेरे लिए शरणभूत हो । इस प्रकार देव के सामने अपनी मनोकामना व्यक्त कर महासती मदन रेखा ने साध्वीजी भगवंत के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । उसने बाद वह देव भी अपने देवलोक में चला गया ।

5. युद्ध विराम

मदनरेखा के नवजात शिशु को पद्मरथ राजा, पुत्र तुल्य मानकर उसका पालन पोषण करने लगा । नव-जात शिशु के पुण्य प्रभाव से सभी दुश्मन राजा भी पद्मरथ राजा के चरणों में नत मस्तक होंने लगे...अत: पद्मस्थ राजा ने उस बालक का नाम **नमिकुमार** रखा । धीरें धीरें नमिकुमार बडा होने लगा । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने पर तो नमिकुमार शस्त्र व शास्त्र कला में निपूण बन गया । अनेक सुंदर राज कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण भी हुआ ।

पद्मरथ राजा ने अपने पुत्र नमिकुमार को राज्य ग्रहण करने के लिए योग्य देखा ऐक शुभ दिन बडे ही धूमधाम के साथ पद्मरथ राजा ने नमिकुमार का राज्याभिषेक कर दिया । राज्य के कार्य भार से सर्वथा मुक्त बने पद्मरथ राजा ने ज्ञानसागरसूरि आचार्य भगवंत के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । क्रमश:

सुंदर चारित्र धर्म का पालन करते हुए पद्मरथ मुनि मोक्ष में चले गए ।

नमिराजा के चरणों में अनेक राजा नत मस्तक होने लगे । नमिराजा इन्द्र की भांति शोभने लगा ।

इधर युगबाहु की हत्या व मणिरथ की सर्पदंश से मृत्यु को जानकर दूसरे दिन उन दोनों बंधुओं की श्मशान यात्रा निकली । मणिरथ के कुकृत्य को जानकर लोग उसको धिक्कारने लगे और युगबाहु की अकाल मृत्यु को जानकर उसके सद्गुणों को याद करते हुए लोग करुण कल्पांत रुदन करने लगे ।

दोनों भाइयों की अकाल मृत्यु के कारण सत्ता का सिंहासन खाली हो चुका था । प्रजाजनों ने युगबाहु के पुत्र चंद्रयश का राज्याभिषेक करने का निर्णय लिया । चंद्रयश की इच्छा नहीं होने पर भी उसे अनिच्छा से राज्य स्वीकार करना पडा ।

राज्य ग्रहण करने के बाद चंद्रयश, न्याय व नीतिपूर्वक प्रजाजनों का पालन करने लगा ।

एक दिन की बात है ।

नमिराजा का श्वेत पट्ट हाथी आलान स्तंभ को उखेड कर विंध्या अटवी में चला गया । उसी समय चंद्रयश राजा विंध्या अटवी में घूमने के लिए गया हुआ था । उस हाथी को देखकर वह खुश हो गया । उसने उस हाथी को पकड लिया और उसे अपने नगर में ला दिया ।

गुप्तचरों के द्वारा जैसे ही नमिराजा को इस बात का पता चला कि उसका पट्ट हस्ती सुदर्शनपुर के राजा चंद्रयश ने पकड लिया हैं, तुरंत ही नमि राजा ने अपना दूत भेजा ।

उस दूत ने जाकर राजा को कहा, 'हे राजन् । हमारे नमिराजा का पट्ट हस्ती आपके राज्य में आया हुआ हैं, उसे आप वापस लौटा दे ।'

दूत की इस बात को सुनकर चंद्रयश ने कहा, 'मैं उस हाथी को देने वाला नहीं हूँ-क्या तुम्हारा स्वामी नीति शास्त्र को नहीं जानता है ? नीति में लिखा हैं- 'लक्ष्मी न तो कुल क्रम से आई हुई होती हैं और न ही पत्र में लिखे अनुसार राज्य दिया जाता है वास्तव में तलवार के आधार पर ही सत्ता हासिल की जाती है । यह भूमि तो वीर भोग्या है ।'

दूत ने कहा, 'यदि आप इस प्रकार हाथी नहीं लौटाओगे तो मेरा स्वामी युद्ध में आपको मारकर भी वह हाथी लिए बिना नहीं रहेगा ।'

दूत की इस बात को सुनकर कोपायमान बने राजा ने तिरस्कार पूर्वक उस दूत को राजसभा में से बाहर निकाल दिया ।

उस दूत ने जाकर नमि राजा के कान फूंके और उसे लडने के लिए तैयार

कर दिया । नमिराजा अपने विशाल सैन्य के साथ सुदर्शन पुर नगर की ओर चल पडा ।

इधर विशाल सैन्य के साथ नमिराजा के आगमन के समाचार को सुनकर चंद्रयश भी युद्ध भूमि में जाने के लिए तैयार हो गया...परन्तु उसके मंत्रियों ने उसे समझाते हुए कहा, नमिराजा का सैन्य विशाल है, युद्ध भूमि में जाकर उसके साथ युद्ध करने में तो अपनी हार निश्चित हैं, अतः हमें बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है । नगर के द्वारों को बंद कर दिया जाय और भीतर रहकर ही हम शत्रु सैन्य को परास्त करने की कोशिश करे ।

राजा को मंत्री की सलाह पसंद आ गई । राजा ने नगर के सभी द्वार बंद करा दिए । इधर नमिराजा ने अपने विराट् सैन्य द्वारा नगर को चारो ओर से घेर लिया ।

अपने दोनों पुत्र व दोनों सगे भाइयों के बीच हो रहे इस महायुद्ध के समाचार मदन रेखा-सुव्रता साध्वी को मिले । वे सोचने लगी, `अहो ! इस असार संसार को धिक्कार हो ! दो सगे भाई युद्ध करने के लिए तैयार हो गए ? इस प्रकार युद्ध भूमि में लाखों लोगों की हत्या कर वे नरक में चले जाएंगें । मुझे किसी भी उपाय से उस युद्ध को रोकना चाहिये ।' इस प्रकार विचार कर अपनी गुरुणी की अनुमति प्राप्त कर मदनरेखा सुव्रता साध्वी अपने परिवार के साथ युद्ध भूमि की ओर चल पडी ।

युद्ध भूमि में साध्वीजी भगवंत के आगमन को देखकर सभी को बडा आश्चर्य हुआ । वे साध्वीजी सर्व प्रथम नमि राजा के पास पहुंची । नमिराजा ने उन्हें प्रणाम किया । तत्पश्चात् सुव्रता साध्वी ने धर्मोपदेश देते हुए कहा, `इस अनादि-अनंत संसार में चार वस्तुओं की प्राप्ति अत्यंत ही दुर्लभ है ।' मानव भव, धर्म-श्रवण, धर्म श्रद्धा व धर्म का आचरण महान् पुण्योदय से ही प्राप्त होता है । अतः क्षणिक वस्तु के पीछे युद्ध कर इस अमूल्य जीवन को नष्ट नहीं करना चाहियें । पूज्य साध्वीजी ने कहा, `हे राजन् ! इस संसार में राज्य से जीव दुःखदायी ऐसी नरक गति में जाता है । अपने ज्येष्ठ बंधु के साथ युद्ध करना उचित नहीं है ।'

नमिराजा ने कहा, `चंद्रयश मेरा ज्येष्ठ बंधु कैसे ?'

मदनसेवा ने नमिराजा के जन्म का सारा संबंध बताया ।

साध्वीजी भगवंत के मुख से चंद्रयश के संबंध को जानकर नमिराजा विचार में पड गया । उसनें अपनी माता पुष्पमाला को पूछा, `मा ! सच बता, मैं किसका पुत्र हूँ ?' पुष्पमाला ने कहा, `मैं तुम्हारी जन्मदात्री माता नहीं हूँ, मैं तो सिर्फ तुम्हारी पालक माता हूँ ।' पुष्पमाला ने नमि के विश्वास के लिए युगबाहु के नाम से

अंकित मुद्रा व कंबलरत्न बतलाया ।

इतनी जानकारी मिलने पर भी नमि राजा युद्ध भूमि से पीछे हटने के लिए तैयार नहीं हुआ ।

तब मदनरेखा अपने दूसरे पुत्र चंद्रयश के पास पहुंची ।

चंद्रयश अपनी मा को पहिचान गया । साध्वी वेष में रही अपनी माता को युद्ध भूमि में आए देखकर चंद्रयश ने कहा, `माताजी इस युद्ध भूमि में आप क्यों आई ?'

साध्वीजी ने कहा, `वत्स ! तूं जिसके साथ लडने के लिए तैयार हुआ है वह तो तेरा छोटाभाई है । एक छोटी सी वस्तु के लिए हो रहे तुम्हारें इस युद्ध को जानकर उस युद्ध को रोकने के लिए मैं यहा आई हूँ ।

चंद्रयश ने कहा, `वह मेरा भाई कहां हैं ?'

माँ ने कहा, `नगर के बाहर हैं ।'

उसी समय चंद्रयश के दिल में इस असार संसार के प्रति वैराग्य भाव पैदा हो गया । वह अपने हथियारों को छोडकर अपने छोटे भाई को मिलने के लिए आगे बढा ।

जैसे ही नमिराजा ने अपने ज्येष्ठ बंधु को हथियार रहित आते हुए देखा । वह भी अभिमान छोडकर बडे भाई के चरणों में झुकने के लिए आगे बढा । क्रमशः बडे भाई के निकट आते ही नमिराजा ने बडे भाई के चरणों में प्रणाम किया । दोनों भाई का परस्पर मिलन हुआ । चंद्रयश ने छोटे भाई को गले लगाते हुए कहा, अब नगर में चलो ।

भव्य स्वागत के साथ दोनों भाइयों का नगर में प्रवेश हुआ । उसके बाद चंद्रयश ने कहा, `पिता की मृत्यु के बाद राज्य भार को वहन करने वाला कोई नहीं होने से अब तक मैंनें वह राज्य संभाला था । तुम मेरे भाई हो, इस बात का मुझे कोई पता नहीं था । मुझे तो माता साध्वी द्वारा इस बात की जानकारी मिली हैं, अतः अब मैं इस राज्य के कार्य भार से मुक्त होना चाहता हूँ । तुम इस राज्य की धुरा को वहन करने के लिए पूर्णतया सक्षम हो, अतः राज्य स्वीकार कर मुझे राज्य के भार से मुक्त करो ।'

नमि ने कहा, `मुझे भी राज्य पसंद नहीं हैं, मैं भी संयम स्वीकार करना चाहता हूँ ।'

ज्येष्ठ बंधु ने कहा, `अपने राज्य भार को वहन करनेवाला कोई नहीं हैं, अतः यह न्याय संगत ही हैं कि बडा भाई छोटे भाई को राज्य देकर स्वयं दीक्षा स्वीकार करे ।'

इस प्रकार चंद्रयश के समझाने पर आखिर नमिराजा नें राज्य लेने के लिए `हां' भर दी ।

चंद्रयश ने नमिराजा को अपना राज्य प्रदान कर गुरु भगवंत के चरणों में

जीवन समर्पित कर भागवती दीक्षा स्वीकार की ।

महासती मदनरेखा साध्वीने भी विशुद्ध संयम धर्म का पालन कर समस्त घाति-अघाति कर्मो का क्षयकर शाश्वत पद-मोक्ष पद प्राप्त किया ।

महासती मदन रेखा ने अपने पति युगबाहु को समाधि प्रदान करने के लिए जो उपदेश दिया, उस उपदेश को **'पद्म-पराग'** ने गुर्जर भाषा में भावानुवाद के रुप में रचा है, जो यह प्रस्तुत हैं-

(राग : मंदिर छो मुक्तितणा...)

हे भाग्यशाली ! आ क्षणे तुं सावधान बनी रहे,
बाहोशपणुं करी जाणवा ने, आ समय आव्यो अरे,
तुं खेद मनमां जरीय कर ना, अन्य को कारण नहि,
पोते करेला कर्मना, परिणाम थी दुःखो अहीं १

जेना वडे कर्मो बंधाया, आ भवे के पर भवे,
तेना विपाको ते अनुभवे, बीजा मात्र निमित हुवे,
समभाव थी सह तेथी जो तुं, रोष शत्रु पर करे,
तो बगडशे परलोक तारो, तेनु नहिं बगडे अरे २

तुं भेगुं करी ले धर्म भातुं, तन-वचनने मन थकी,
अने जे कर्या दुष्कृत्य तेनी, गर्हणा कर संप्रति,
होय मित्र के दुश्मन महा, वली स्वजन के परजन भले,
खमावजे ते सर्व ने तुं, हृदय ना भावे भले ३

तिर्यंच गति मां हतो त्यारे, प्राणीओने जे पीड्या,
नारकपणा मां नारकीओ, साथ जे बहु बहु लड्या,
तिम देवने वली मनुजने, संतापीया दुःखे करी,
ते सर्वने त्रिविधे खमावे, मैत्री भाव हृदय धरी ४

प्रियनो समागम जीवन, यौवन रुप ने लक्ष्मी बधु,
पवन प्रकंपित जलधिना, मोजासमुं चंचल कीधुं,
व्याधि जरा-मृत्यु-जनमथी, ग्रस्त छे प्राणी सवि,
तेने जिनोदित धर्म विना, शरण बीजुं को नवि ५

सर्वे जीवो स्वजनों थया, ने ते थया दुश्मन वली,
तो पछी ते जीवो प्रति करे, कोण राग लली लली,
जन्मे छे आत्मा एकलोने, एक मृत्यु पामतो,
सुखो अनुभवे एकलोने, दुःख तेम नभावतो ६

धन कण स्वजनने तन वगेरे, जीव थी सहु भिन्न छे,
पण मुर्ख तेमां महालतोने, मानतो के अभिन्न छे,
चरबी-रुधिर-मलमूत्र-अस्थि, मांसथी भरपूर आ,
अशुचि खाण समां शरीरमां, चतुर ने अनुराग ना ७

टुंक समयमां पडे छोडवो, आ देह भाडुं घर समो,
लालन करो पालन करो, पण छे नश्वर समजो तमो,
कायर बने के धीर पण, मरवुं पडे सहु जीव ने,
तो मरे तेम चतुर जेथी फरी न मरवुं भव वन ८

अरिहंत सिद्ध सुसाधु ने, केवली प्ररुपित धर्म जे,
आ शरण दायक चार तत्त्वो, ना शरण स्वीकारजे,
जिनधर्मने गणो मात सरिखो, तात सम सद्गुरु वली,
सोदर समा सुसाधुओ, साधर्मिको स्वजनो वली ९

प्राणातिपात असत्य-चोरी, मैथुन ने परिग्रह तणो,
परित्याग कर तुं त्रिविध-त्रिविधे, भाव धरी मनमां घणो,
हिंसादि पाप अढार छे, तेनाथी पाछो फिर हवे,
अरिहंत आदि पंच परमेष्ठिने, वंदन कर भावे हवे १०

सहु जीव ने वंदनिक रुषभ, जिणंद आदि भदंत ने,
कर वंदनावली भरत ऐरावत-विदेह जिणंद ने,
भगवंत तीर्थंकर प्रभुने, नमन जे भावे करे,
ते नमन करता बोधि पामे, शीघ्र भवजलधि तरे ११

ध्यानाग्निथी जेणे जगाया, कर्म क्रोडो भवतणां,
भगवान ते श्री सिद्धने, वंदो अहो भावे घणां,
प्रवचन सुकानी पंचविध, आचार पालन रत सदा,
आचार्य वंदो तेह जे, कापी रह्या भव आपदा १२

धारण करे सवि सूत्रने, आपे वली निज शिष्यने,
वंदन करो भावे भले ते, उपाध्याय भगवंतने,
वंदन करो सुसाधुने, शील-व्रत थकी जे शोभता,
जे क्षमा मंडलमां रह्या, मुक्ति तणी करे साधना १३

परमेष्ठि पांच ने वंदता जे, मृत्यु मंगल याचतां,
पामे नहि ते मोक्ष तो पण, देव वैमानिक थतां,
सवि पाप ना व्यापार ने, अने परिग्रहने तिम सवे,
तुं वोसिराव त्रिविध त्रिविधे, जीवन अंत सुधी हवे १४

आहार चारनो त्याग कर तुं, जीवन अंतिम क्षण सुधी,
आ देह ने पण चरम श्वासे, वोसिराव तुं हे सुधि !
कर त्याग तुं धन-स्वजनने, घर बार नी ममता तणो,
अंते सहु रही जशे, एक धर्म ने साथी गणो १५

दुष्कृत्य नी गर्हा अने, सवि जीव साथ क्षमापना,
चतुःशरण परमेष्ठी नमन, अनशन तथा शुभ भावना,
आराधना ए षट् प्रकारो, करावी निज स्वामी ने,
पछी धीर बुद्धि मदनरेखा, उच्चरे इम वाणी ने १६

ऊपर कहेली वात ने महाभाग ! मनमां तुं लही,
ने याद करी ने नरकनी, महावेदनाो जे सही,
सुख राग के दुःख द्वेष मनमां लावतो नही तुं जरा,
आवी पड्या आ कष्ट ने सही साधी ले तुं निर्जरा १७

मानवपणुं जिनधर्म अने आ योग सरि दुर्लभ कह्यो,
तेथी समाधिमय बनी तेना सफल फल ने ग्रहो,
समाधि रंगतरंग ना आ, स्त्रोतमां झीली सहु,
पद्म पराग कहे ने, वरजो सहु मुक्ति वहु १८

यह कैसी विडंबना ?

अहिंसा के बलबूते पर आजादी प्राप्त करने की बात करने वाले इस भारत देश में अब क्या हो रहा है ?

सत्ता के सिंहासन पर अहिंसा देवी की प्रतिष्ठा होने के बजाय हिंसा-क्रूरता की प्रतिष्ठा हो रही है ।

आज देश में क्रूरता शैतान की भांति मुंह फाडे खडी है, जब कि अहिंसा के आंसु थम नहीं रहे है ।

आज विश्व में हथियार के बाजार में बडी तेजी है । आहे एक आदमी पर प्रतिदिन १२ रुपये ८९ पैसे हथियार के पीछे खर्च हो रहा है ।

भारत देश में क्या हो रहा है, कुछ समझ में नहीं आ रहा है ।

4

महासती राजीमती

एक बार नेमिकुमार श्रीकृष्ण की आयुधशाला में पहुँच गए और वे अत्यन्त सहजता से अपनी अंगुली पर सुदर्शन-चक्र घुमाने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने पाञ्चजन्य शंख फूंका। उस शंख की ध्वनि से वातावरण में खलबली मच गई। सभी हाथी आलान-स्तम्भ तोड़कर भागने लगे। सभी घोड़े जोर-जोर से हेषारव करने लगे। चारों ओर हाहाकार मच गया।

शंख की ध्वनि सुनकर श्रीकृष्ण ने सोचा-'यह शंख किसने बजाया है ? क्या मेरा कोई शत्रु पैदा हुआ है ?' वे भागकर आयुधशाला में आए और वहाँ नेमिकुमार को देखकर आश्चर्यमुग्ध हो गए।

वे सोचने लगे, 'नेमिकुमार के बल की मुझे परीक्षा करनी चाहिए।' बल-परीक्षा के लिए उन्होंने युद्ध का आह्वान किया। नेमिकुमार ने कहा-''बल-परीक्षा के लिए युद्ध की क्या आवश्यकता है ? एक-दूसरे का हाथ मोड़कर भी बल की परीक्षा हो सकती है।''

श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार की शर्त स्वीकार कर ली।

पहले श्रीकृष्ण ने अपना हाथ लम्बा किया। नेमिकुमार ने उसे सहजता से मोड़ दिया।

उसके बाद नेमिकुमार ने अपना हाथ लम्बा किया। अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी श्रीकृष्ण नेमिकुमार के हाथ को मोड़ न सके।

वे निराश होकर सोचने लगे, ''अहो ! नेमिकुमार मुझे हराकर मेरे राज्य को ले लेगा।''

इस प्रकार विचार कर उन्होंने बलभद्रजी से मंत्रणा की।

तभी आकाशवाणी हुई, 'हे कृष्ण वासुदेव ! पूर्व में नमिनाथ प्रभु ने कहा है कि नेमिकुमार कुमारावस्था में ही दीक्षा लेंगे।' इस आकाशवाणी को सुनकर श्रीकृष्ण कुछ निश्चिन्त बने। फिर भी उसकी परीक्षा के लिए उन्होंने अपनी पत्नियों को कहा, ''तुम नेमिकुमार को पाणि-ग्रहण के लिए तैयार करो।''

श्रीकृष्ण के आग्रह से नेमिकुमार जल-क्रीड़ा के लिए गए। जल-क्रीड़ा के बाद रुक्मिणी, सत्यभामा आदि नेमिकुमार को पाणि-ग्रहण के लिए आग्रह करने लगीं। उनके आग्रह को देख नेमिकुमार मौन रहे। उनके मौन को सम्मति समझकर सत्यभामा आदि ने श्रीकृष्ण से बात की।

तत्काल श्रीकृष्ण ने ज्योतिषी को बुलाकर लग्न का मुहूर्त पूछा। ज्योतिषी ने कहा-``चातुर्मास में लग्न आदि शुभ कार्य नहीं होते हैं।'' परन्तु श्रीकृष्ण के अति आग्रह से उसने श्रावण शुक्ला छठ्ठ का दिन बता दिया।

बस, तत्काल श्रीकृष्ण ने उग्रसेन राजा से बातचीत कर, उसकी पुत्री राजीमती के साथ नेमिकुमार के लग्न की तैयारी आरम्भ कर दी।

नेमिकुमार संसार से अत्यन्त ही विरक्त थे। लग्न करने की उनकी लेश भी इच्छा नहीं थी। फिर भी माता-पिता के आग्रह से उन्होंने उग्रसेन राजा के महल की ओर प्रयाण किया। धीरे-धीरे रथ आगे बढ़ने लगा। नेमिकुमार ने पूछा-``वह सामने किसका महल दिखाई दे रहा है ?''

सारथी ने कहा-``उग्रसेन राजा का।''

इधर उसी समय राजीमती अपनी सखियों के साथ वार्ता विनोद कर रही थी। वह भी रथ में आ रहे नेमिकुमार को दूर से देखने लगी। तभी उसका दाहिना नेत्र स्फुरित होने लगा। उसे अपना भावि-अमंगल दिखाई देने लगा।

इसी बीच नेमिकुमार को पशुओं का क्रन्दन सुनाई दिया। सारथी के पूछने पर पता चला कि अन्य क्षत्रिय राजाओं की मिजबानी के लिए इन पशुओं को बन्धन ग्रस्त किया है। नेमिकुमार ने उन्हें मुक्त करने के लिए आदेश दे दिया। लग्न के विचार का त्याग कर अपने रथ को मोड़ दिया। नेमिकुमार लौट चले। राजीमती को नेमिकुमार के लौटने की बात का ज्योंहि पता चला, त्योंहि उसे अत्यन्त आघात लगा। सभी सखियाँ उसे आश्वासन देने लगीं और कहने लगीं ``हे राजीमती ! हमने जो कहा था कि काली वस्तु में अवगुण होते हैं, वह बात आज सत्य निकली। तू नेमिकुमार को भूल जा, अन्य राजकुमार के साथ तेरा पाणिग्रहण हो जाएगा।'' साखियों के मुख से इन शब्दों को सुनकर राजीमती ने अपने कान पर हाथ धर दिए और बोली-``ऐसे कटु शब्द मुझे मत सुनाओ। पूर्व में उदय पाने वाला सूर्य कदाचित् पश्चिम में उग जाय, फिर भी मैं अन्य पति को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं हूँ।''

राजीमती ने सोचा-``भले ही नेमिकुमार ने मेरा हाथ नहीं पकड़ा...परन्तु दीक्षा के समय तो अवश्य ही उनका हाथ मेरे मस्तक पर रहेगा।''

इधर नेमिकुमार ने अपने माता-पिता को समझा दिया। लोकान्तिक देवों ने आकर नेमिकुमार का अभिनन्दन किया और कहा, **'हे भगवन् ! तीर्थ प्रवर्ताओ'** का निवेदन किया।

उसी दिन से नेमिकुमार ने वार्षिकदान प्रारम्भ कर दिया।

नेमिनाथ की दीक्षा व केवलज्ञान

एक वर्ष तक निरन्तर दान देकर नेमिकुमार ने जगत् के द्रव्य-दारिद्र्य को दूर किया । तत्पश्चात् श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन नेमिकुमार की दीक्षा का भव्य वरघोड़ा निकला । उत्तरकुरा नाम की शिविका में बैठकर नेमिकुमार रैवतक उद्यान में पधारे और वहाँ आकर अशोक वृक्ष के नीचे सर्व आभूषणों का त्याग कर पंच मुष्टि लोचकर दीक्षा अंगीकार करली ।

५४ दिन तक नेमिनाथ प्रभु छद्मस्थ अवस्था में रहे । इन दिनों में उन्होंने समत्वभाव की उत्कृष्ट साधना की, जिसके फलस्वरुप आसो वद अमावस्या के दिन उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।

देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । प्रभु ने वैराग्यपूर्ण धर्मदेशना दी, जिसे सुनकर वरदत्त आदि अनेक राजाओं ने तथा राजीमती आदि ने भागवती दीक्षा स्वीकार कीं । उसी समय परमात्मा ने चतुर्विध संघ की स्थापना की ।

एक छोटी सी चिन्गारी भयंकर दावानल का रुप ले सकती है । जंगलों में भयंकर दावानल पैदा हो जाते हैं, उन सब का मूल तो एक छोटी सी चिन्गारी ही होती है ।

बस, इसी प्रकार एक छोटा-सा अशुभ निमित्त एक महान् साधक आत्मा का भी क्षण भर में पतन करा देता है । इसीलिए तो अशुभ निमित्तों से सदा-सर्वथा दूर रहने का निर्देश दिया गया है ।

बाईसवें तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी नेमिनाथ प्रभु के भाई-रथनेमि !

प्रभु की वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना का अमृत-पान कर रथनेमि ने युवावस्था में चारित्र धर्म स्वीकार किया और निर्मल चारित्र धर्म का पालन करने लगे ।

एक बार रथनेमि मुनि गिरनार पर्वत की किसी गुफा में कायोत्सर्ग ध्यान में लीन बने हुए थे । उसी समय अचानक आकाश बादलों से घिर गया । चारों ओर अंधकार छा गया । आकाश में बिजलियां चमकने लगी और देखते ही देखते क्षण भर में जोरदार वर्षा चालू हो गई । चारों ओर पानी-पानी हो गया ।

उस समय एक श्रमणी, जिसका नाम राजीमती था...और जिसने यौवन-वय में ही नेमिनाथ प्रभु के वरद हस्तों से भागवती प्रव्रज्या स्वीकार की थी, गिरनार पर्वत से नीचे उतर रही थी ।

स्वयं अकेली होने पर भी जिसके मुखारविंद पर भय की कोई रेखा नहीं थी । आत्मा की अमरता का मुक्त कंठ से गान करने वाली वह साध्वी आत्मानंद की मस्ती में संयम जीवन का मधुर आस्वाद ले रही थी ।

अचानक मार्ग में ही वर्षा का आगमन हो जाने से राजीमती श्रमणी के सारे वस्त्र भीग गए। `चालू वर्षा में कहीं गमनागमन नहीं करना चाहियें', इस आचार मर्यादा को अच्छी तरह से जानते हुए भी कहीं वृक्ष आदि का आश्रय न मिलने पर वह श्रमणी क्रमशः आगे बढ़ रही थी।

अचानक उसे सामने एक गुफा दिखाई दी। उसने सोचा, `इस गुफा में जाकर मैं अपने वस्त्रों को ठीक कर दूं।'

गुफा में अंधकार तो था ही...परंतु गुफा में प्रवेश करने वाली श्रमणी को अंधकार की विशेष अनुभूति रही।

`इस गुफा में इस समय कौन हो सकता हैं ?' इस प्रकार मनोमन ही एकांतता का निश्चय कर वह राजीमती श्रमणी अपने अंग पर से भीगे वस्त्रों को दूर करने लगी।

अचानक आकाश मे बिजली चमक उठी। उस बिजली के प्रकाश में वहां ध्यान में खड़े रथनेमि मुनि ने राजीमती के वस्त्र रहित देह को देखा। उनकी ध्यान-धारा वहीं पर खंडित हो गई...और उनके रोम-रोम में कामाग्नि भड़क उठी।

रथनेमि मुनि क्षणभर में साधक मिटकर कामुक बन गए। उनकी चिंतन-धारा बदल गई। क्षणभर पूर्व जो जगत् की अनित्यता और आत्मा की नित्यता के ध्यान में लीन थे...जो अपने ध्यान के माध्यम से जगत् को अशुचिमय जान रहे थे...राजुल की देह लता के दर्शन के साथ ही उन्हें उसी के संग में स्वर्ग और मोक्ष की कल्पना दिखाई देने लगी।

रथनेमि अपनी साधक अवस्था को भूल गए।

अर्थ और काम के सेवन में जिन्होंने साक्षात् नरक के दर्शन किए थे...आज वे ही रथनेमि मुनि स्त्री-संसर्ग में स्वर्ग के दर्शन करने लग गए। इतना ही नहीं, वे अपने मुनिजीवन की आचार-मर्यादा को भी भूल गए।

`भाषा-मर्यादा के लोप द्वारा साधु अपनी आत्मा का अधः पतन न कर दे, इसके लिए भगवान ने साधु की भाषा पर नियंत्रण रखने के लिए भाषा समिति और वचन गुप्ति रुपी दो चौकीदार रखे हैं...परंतु रथनेमि मुनि ने उन दोनों चौकीदारों की उपेक्षा कर दी...और वाणी स्वातंत्र्य को प्राप्त कर उस राजीमती साध्वी के पास काम भोग की प्रार्थना करने लगे।

नदी में जब बाढ़ आ जाती हैं, तब वह अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन किए बिना नहीं रहती हैं...बस, इसी प्रकार काम-क्रोध आदि अंतरंग शत्रु के वशीभूत बनी हुई आत्मा भी अपने साध्वाचार की मर्यादा का लोप किए बिना नहीं रहती।

रथनेमि बोल उठे, `राजीमती ! यौवन का उपवन अभी पूरा-पूरा खिला हुआ हैं-इसका आनंद लूट ले । धर्म-ध्यान की साधना के लिए यह वय नहीं है, धर्म-ध्यान तो वृद्धावस्था में भी कर देंगे...अभी तो भोगी भ्रमर बनकर यौवन का आनंद ले ले ।'

रथनेमि की शब्द ध्वनि कान में पड़ते ही राजुल समझ गई । जल्दबाजी में रथनेमि कुछ अकार्य न कर बैठे...इसके पूर्व राजुल ने अपने आपको संभाल दिया...तुरंत ही उसने अपने वस्त्र ठीक कर दिए ।

सचमुच, अंधकार, यौवन, एकांत और स्त्री का मिलन ये काम की चांडाल चौकड़ी है । खिलते हुए यौवन में जब ये निमित्त मिल जाते हैं तो अच्छे-अच्छे साधक का भी अधःपतन हो जाता है ।

रथनेमि का मानसिक पतन हो चुका था...परंतु, राजुल एक सती साध्वी थी । उसने देखा, `काम की आग में गिरने की तैयारी करने वाली इस आत्मा को अभी जागृत नहीं किया तो ये अपनी आत्मा को पतन के गर्त में डूबा देंगे ।'

राजीमती ने सोचा, `पतन की खाई में गिर जाए इसके पूर्व इस काम रुपी हाथी को ज्ञान रुपी अंकुश से वश कर लेना जरुरी हैं ।' `इस प्रकार विचार कर वह बोली, `हे देवर ! मुनिवर ! आप अपने मन को शुभ ध्यान में स्थिर रखों...उस ध्यान से ही आपका कल्याण होने वाला है । यादव कुल में जन्में नेमिनाथ प्रभु के आप लघु-बंधु हो । नेमिनाथ प्रभु ने मेरा वमन (त्याग) कर दिया है । आप इस वमन को चाटने के लिए कैसे तैयार हुए ? नेमिनाथ प्रभु और आपके आचरण में इतना बड़ा अंतर क्यों ? परस्त्री-गमन से तो प्राणी नरक में जाता हैं और भवांतर में दुर्लभबोधि बनता है ।

चारित्र से भ्रष्ट होकर साध्वी के साथ जो अनाचर करता हैं, वह आत्मा इस संसार में भयंकर दुःखों की भाजन बनती है ।

मेरी काया तो अशुचि-अपवित्रता से भरी हुई है । ऊपर की इस चमड़ी को देखकर आप मुझ पर मोहित क्यों हो रहे हों ?

मैंने भी संयम स्वीकार किया हैं और आपने भी महाव्रतों का पवित्र वेष धारण किया है । काम की पराधीनता से तो इन पवित्र महाव्रतों का खंडन ही होने वाला है ।

हे मुनिवर ! आप शास्त्रों के ज्ञाता हो । अगंधन कुल में उत्पन्न हुआ सर्प कभी भी वमन किए विष का पुनः पान नहीं करता है । योगी पुरुष तो अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सांप के समान होते है । जिन भोगों का वमन कर दिया हैं, मुनि उन भोगों की कभी इच्छा नहीं करता है । नीच कुल में भी जो प्रवृत्ति नहीं

होती हैं, ऐसी चेष्टा करते हुए आपको शर्म आनी चाहियें ।'

राजीमती की सिंह गर्जना ने रथनेमि पर जादुई असर किया । वे एकदम चोंक उठे । काम-विह्वल बनी उनकी अंतरात्मा में से काम की वासना धीरे-धीरे विलीन होने लगी ।

राज़ीमती के वचनों ने रथनेमि की सुषुप्त आत्मा को पुनः जागृत कर दिया ।

उनकी अंतरात्मा में पश्चात्ताप पैदा होने लगा...और उनकी आंखों में से पश्चात्ताप के आंसु बहने लगे । उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई ।

वे दोनों उस गुफा में से बाहर आए । वर्षा बंद हो चुकी थी । आकाश स्वच्छ था...चारों और प्रकृति का खुशनुमा वातावरण था । सूर्य के सोनेरी किरणों से वातावरण में आह्लादकता छा गई थी ।

राजीमती पुनः नेमिनाथ प्रभु के दर्शन के लिए गिरनार पर्वत पर चढ़ने लगी ।

रथनेमि भी नेमिनाथ प्रभु के दर्शन के लिए आगे बढ़े । प्रभु के चरणाविंद में पहुंचकर उन्होंने अपने पाप का निवेदन किया और पुनः प्रायश्चित्त ग्रहण कर अपनी आत्मा को पवित्र स्वर्ण की भांति शुद्ध बना दिया ।

विनय धर्म का मूल है !

मूल के बिना वृक्ष टिक नहीं सकता ।

नींव के बिना महल टिक नहीं सकता । बस इसी प्रकार विनय के बिना जीवन में धर्म रुपी ईमारत खडी नहीं हो सकती । जीवन में यदि विनय नहीं है तो जीवन में धर्म का प्रवेश हो ही नहीं सकता ।

लोक में भी नियम हैं-जो झुकता हैं, वही पाता है ।

नदी किनारें गया हुआ लोटा यदि झुकता हैं तो वह भरकर बाहर आता हैं और झूकने के लिए तैयार नहीं हो तो एकदम खाली ही रहता है ।

बस, इसी प्रकार जीवन में सम्यग्ज्ञान पाना हैं तो अपनें जीवन में विनय व नम्रता को आत्मसात् करना ही होगा । विनय के अभाव से धर्मक्रियाएँ भी सफल नहीं हैं ।

5 ऋषिदत्ता

चुल्हें की आग को इन चर्मचक्षुओं के द्वारा देखा जा सकता है और उसे जल द्वारा शांत भी किया जा सकता हैं...परन्तु ईर्ष्या की आग इन चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देती है । मानवी के अन्तर्मन में भडकती इस आग को शांत करना अत्यंत ही कठिन कार्य है ।

आग से नष्ट हुई वस्तु तो धन द्वारा पुनः खरीदी जा सकता है...परन्तु मानव मन में उत्पन्न हुई ईर्ष्या की आग एक बार भडकने के बार जो भयंकर नुकसान पहुंचाती हैं...उसकी पूर्ति कदापि संभव नहीं है ।

प्रस्तुत हैं दिल को दलहाने देने वाली महासती ऋषिदत्ता की अत्यंत ही अद्भुत और रोमांचक कहानी ।

भरत क्षेत्र का मध्य खंड ।

रथमर्दन नगर !

न्यायप्रिय और लोक हृदय में प्रतिष्ठित हेमरथ राजा !

सत्ता के सिंहासन पर आसीन होने वाले राजा तो बहुत होते हैं...परन्तु प्रजाजनों के हृदय में प्रतिष्ठित होने वाले सम्राट् विरले ही होते है ।

लोक हृदय में प्रतिष्ठित हेमरथ राजा के शील-संपन्न एवं वात्सल्यमूर्ति समान सुयंशा नाम की मुख्य रानी थी ।

एक दिन महारानी सुयशा ने स्वर्णकांति के समान अत्यंत ही तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म दिया । राजा ने धूमधाम के साथ पुत्र जन्म का महोत्सव किया ।

राजा ने उस राजपुत्र का नाम **'कनकरथ'** रखा । दूज के चांद की भांति कनकरथ राजकुमार धीरें धीरें बडा होने लगा । वय की वृद्धि के साथ कनक रथ के जीवन में सद्गुणों की भी वृद्धि होने लगी ।

समय बीतने पर वय से वृद्ध तो सभी हो जाते हैं...परन्तु गुणों से वृद्ध होने वाले कोई विरले ही होते है । जीवन में गुणवृद्धि के अभाव में हुई वय-वृद्धि का कोई विशेष महत्त्व नहीं है ।

यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही कनकरथ राजकुमार का देह सौंदर्य एकदम खिल उठा । अति आकर्षक गौर वर्ण, विशाल भाल, एकदम उज्ज्वल दंत पंक्ति, एकदम श्याम घूंघराले बाल, तेजस्वी नेत्र, मजबूत छाती आदि आदि शारीरिक लक्षणों से युक्त देह सौंदर्य के साथ ही उसके जीवन में दया, दान, परोपकार, विनय, विवेक, नम्रता आदि गुणों का भी सुंदर संगम हो गया । सोने में सुगंध की भांति जितना उसका बाह्य-व्यक्तित्व आकर्षक था, उतना ही आकर्षक

उसका अभ्यंतर व्यक्तित्व भी था।

कनकरथ पुरुषों की समस्त ७२ कलाओं में निपूण बन चूका था, इसके साथ ही उसने धर्म कला भी हासिल की थी।

व्यवहारिक शिक्षण कितना ही प्राप्त किया जाय परन्तु जीवन में यदि धर्मकला हासिल न हो तो सब कुछ बेकार ही है।

इधर कोबेरी नगरी में सुंदरपाणि नाम के महाराजा थे। उस राजा के वरसुधा नाम की महारानी थी। राजा और रानी के इकलौती बेटी थी, जिसका नाम था रुक्मिणी। रुक्मिणी ने स्त्री के योग्य समस्त ६४ कलाओं में निपूणता प्राप्त की। यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही चंद्र की सोलह कलाओं की भांति उसका सौंदर्य एकदम खिल उठा।

नवयौवना पुत्री को देखकर राजा के दिल में उसके सुयोग्य वर की चिंता सताने लगी।

इस संबंध में राजा ने मंत्रियों से सलाह ली।

किसी वृद्ध मंत्री ने कहा, `राजन् ! मैंने सुना हैं कि रथमर्दन नगर के महाराजा हेमरथ का पुत्र कनकरथ राजकुमार रुप-संपन्न होने के साथ-साथ गुण संपन्न भी है। मेरी दृष्टि में तो वह कनकरथ इस राजकुमारी के लिए सुयोग्य वर सिद्ध हो सकता है। कन्या के योग्य वर को प्राप्त कर आप भी चिंता के भार में से सदैव मुक्त हो सकते है।

वर की पसंदगी में प्रधानता गुणों की होनी चाहियें न कि रूप की। रूपवान् व्यक्ति मिलना सुलभ है किंतु गुणवान् व्यक्ति मिलना अत्यंत ही कठिन हैं...और उसमें भी गुणवान् के साथ साथ रूपवान् भी हो, ऐसे व्यक्ति का संयोग तो अत्यंत ही दुर्लभ है।

राजन् ! कनकरथ में, सोने में सुगंध की भांति रूप व गुण दोनों का सुंदर संगम हुआ हैं, अतः ऐसे दामाद को प्राप्त कर आपका हृदय भी खुशी से नाच उठेगा।

राजा को वृद्ध मंत्री की सलाह पसंद आ गई।

शुभ कार्य में विलंब करना उचित नहीं है और अशुभ कार्य को 'कल' पर टाल देने में ही हित रहा हुआ है।

शुभ कार्य में काल विलंब न करें और अशुभ कार्य में सदैव कालक्षेप करते रहे। अपनी कन्या के पाणिग्रहण के लिए सुंदरपाणि राजा ने तत्काल निर्णय ले लिया। उसने एक दूत को तैयार किया और उसे रथमर्दन-नगर में भेज दिया।

दूत ने जाकर राजा को बात की। दूत की बात सुनकर हेमरथ राजा ने

अपनी सम्मति प्रदान कर दी ।

पिता की आज्ञा से कनकरथ राजकुमार ने अपने मित्र परिवार व सैन्य के साथ कौबेरी की ओर प्रयाण कर दिया ।

क्रमशः आगे बढते हुए कनकरथ राजकुमार ने एक बार किसी नगर के बाहर अपना पडाव डाला । कनक रथ आम्र वृक्ष के नीचे बैठकर अपने मित्रों के साथ वार्तालाप कर रहा था, तभी किसी दूत ने आकर राजकुमार को कहा, `हे कुमार ! हमारें राज्य की सीमा में प्रवेश करने के पूर्व आपने हमारे महाराजा अरिदमन की आज्ञा क्यों नहीं ली ? आपका यह अपराध अक्षम्य है अतः या तो अपने अपराध के लिए महाराजा के पास जाकर क्षमा याचना करे अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाय ।'

युद्ध की बात सुनकर कनकरथ राजकुमार का खुन गर्म हो गया... कोपायमान होकर कुमार ने कहा, `तुम्हारे स्वामी को जाकर कह दो कि युद्ध के लिए तैयार हो जाय ।'

दूत ने जाकर अरिदमन राजा को बात की । दूत की बात सुनते ही अरिदमन राजा युद्ध के लिए तैयार हो गया । अपने विशाल सैन्य दल के साथ वह युद्ध भूमि में आ खडा हुआ । कुमार ने भी अपने सैन्य को युद्ध के लिंए आदेश दे दिया ।

देखते ही देखते दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध छिड गया । दोनों पक्ष के सैनिक जी जान से लडने लगे । युद्ध भूमि रक्त रंजित हो गई । संध्या समय गिद्ध आदि अनेक पक्षी आ आकर मृत कलेवरों की मिजबानी उडाने लगे ।

युद्ध भूमि में दोनों सेना के वीर सैनिकों ने अद्‌भुत पराक्रम दिखलाया ।

आखिर कुमार ने अपना अद्‌भुत पराक्रम बतलाकर कुछ ही समय बाद अरिदमन राजा को जींदे जी पकडकर कैदी बना दिया ।

अरिदमन को बंदी बनाने के साथ ही युद्ध विराम की घोषणा हो गई । अरिदमन के सैन्य की हार हुई । कनकरथ राजकुमार ने आगे की ओर अपना प्रयाण प्रारंभ कर दिया । कुछ दिनों के बाद कनकरथ को अरिदमन राजा के प्रति दया आ गई...उसने उसे मुक्त कर दिया ।

युद्ध भूमि में हजारों सैनिकों की मौत देखकर अरिदमन के दिल में इस संसार के प्रति वैराग्य पैदा हो गया । कनकरथ राजकुमार ने उसे मुक्त कर दिया । अपने पुत्र का राजगद्दी पर बिठाकर अरिदमन राजा ने दीक्षा अंगीकार कर ली ।

अरिदमन ने विचारों का मंथन किया और वह इस निर्णय पर आया कि युद्ध भूमि में निर्दोष प्राणियों को मौत के घाट उतार देना सरल हैं, परन्तु आत्मा

के शत्रु भूत क्रोध आदि अंतरंग-शत्रुओं को जीतना अत्यंत ही दुष्कर कार्य है। युद्ध भूमि में विजेता बनकर भी जो आत्मा के अंतरंग शत्रुओं को नहीं जीत पाया, वास्तव में युद्ध भूमि में हुई उसकी जीत भी हार से कम खतरनाक नहीं है।

`अब मुझे आत्मा के अंतरंग शत्रुओं से लडकर उन्हें परास्त करने का हैं' इस प्रकार निर्णय कर वे रत्नत्रयी की साधना में आकंठ डूब गए।

कुछ ही वर्षो में अरिदमन मुनि अपने अंतरंग शत्रुओं को परास्त करने में सफल हो गए। घाति-अघाति समस्त कर्मो का क्षय कर केवलज्ञान रुपी लक्ष्मी को प्राप्त कर वे हमेंशा के लिए अजरामर पद के भोक्ता बन गए।

कनकरथ ने अपना रथ आगे बढाया। एक बार उन्होंने जंगल में पडाव डाला। संध्या का समय था। कनकरथ आम्रवृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। उसके सभी साथी जंगल के प्राकृतिक सौंदर्य को देखने के लिए गए हुए थे। कुमार अपने साथियों के आगमन की इंतजारी कर रहा था। काफी लंबी इंतजारी के बाद कुमार ने अपने साथियों को आते हुए देखा।

जिज्ञासावृत्ति से कुमार ने अपने साथियों को पूछा, `दोस्तो ! इतनी देरी कैसे हुई ?'

मित्रों ने कहा, `राजकुमार ! हम जंगल के प्राकृतिक दृश्यों को देखने का आनंद लूट रहे थे...तभी अचानक पास के उद्यान में झूले में झूलती हुई अप्सरा जैसी कन्या को देखा। क्या उसका अदभुत रुप था ? ऐसी सुंदर कन्या तो हमने अपने जीवन में कभी नहीं देखी। हम सोच में पड गए `यह स्वर्ग से च्युत हुई कोई देवांगना है। अप्सरा हैं। किन्नरी हैं...कामदेव की पत्नी है।' इस प्रकार हम विचार कर रहे थे...तभी अचानक वह कन्या अदृश्य हो गई। उस कन्या को पुनः देखने के लिए खूब कोशिश की, परन्तु हमारे सभी प्रयत्न निष्फल गए...हम उस कन्या को पुनः नहीं देख सके। बस इसी कारण हमें वापस यहां लौटने में देरी हुई है।'

अपने साथियों की इस बात को सुनकर राजकुमार भी विचार में पड गया। वह सोचने लगा `इस भयंकर जंगल में वह कन्या कौन होगी ?'

संध्या का समय बीत चूका था। आकाश में तारे टिमटिमाने लगे। रात्रि प्रारंभ हुई। कुमार भी उस कन्या के विचारों में निद्राधीन बन गया।

प्रातःकाल हुआ। शौच आदि अन्य कार्यो से निवृत्त हुए कुमार ने कौबेरी की ओर प्रयाण के लिए अपनी यात्रा प्रारंभ कर दी।

आगे बढता हुआ कुमार सरोवर के तट पर आया...और अचानक वहां पर

उसने एक अति अद्‌भुत कन्यारत्न को देखा । उस कन्या के अद्‌भुत रुप लविण्य व सौंदर्य को देखकर उसके आश्चर्य का पार न रहा । अहो ! ऐसा कन्यारत्न क्या पृथ्वी पर उत्पन्न होना संभव हैं ? नहीं ! नहीं ! यह कोई स्वर्गीय कन्या लगती है । कितना अद्‌भुत इसका रुप हैं ? क्या खारे समुद्र में कपूर की बाढ आ सकती हैं ? क्या मरुभूमि में जल से भरा सरोवर मिल सकता हैं ?'

अचानक कुमार की नजर पास में ही रहे विशाल जिन मंदिर पर गिरी । उस कन्यारत्न को देखने के लिए कुमार ने जैसे ही अपनी दृष्टि दोडाई...कुमार ने देखा-कन्यारत्न कहीं पर भी नजर नहीं आ रहा है ।

कुमान ने सोचा, 'शायद वह कन्या जिनमंदिर में चली गई होगी, इस प्रकार विचार कर कुमार ने भी जिनमंदिर में प्रवेश किया ।'

जिनमंदिर में प्रवेश करने पर उसे ऋषभदेव परमात्मा की मनमोहक-प्रतिमा दिखाई दी । कुमार ने अत्यंत ही भावपूर्वक प्रभु के दर्शन किए । निर्मलजल से प्रभु का प्रक्षालन कर सुगंधी पुष्पों द्वारा प्रभु की पूजा की । तत्पश्चात् अत्यंत ही भावपूर्वक वह प्रभु की स्तुति करने लगा ।

'हे जिन पुंगव ! हे नाभेय ! आपकी जय हो । भव्य जीवों को शाश्वत सुख प्रदान करने में आप ही समर्थ हो ।

हे प्रभो ! आपके दर्शन करने से मेरे चक्षु सफल हो गए है । हे प्रभो ! आपको वंदन करने से मेरा मस्तक सफल हो गया है । हे प्रभो ! आपकी स्तुति करने से मेरी वाणी सफल हो चूकी है ।

हे प्रभो ! आज मेरा दिन धन्य है, आज मेरे लिए सोने का सूरज उगा है । आपके दर्शन कर...आपको वंदन करने से मेरा जीवन धन्य हो गया है ।'

कनकरथ राजकुमार परमात्मा की इस प्रकार स्तुति कर ही रहा था, तभी वह कन्या हाथ में पुष्प लेकर उस मंदिर में आई । उसने अत्यंत ही भावपूर्वक परमात्मा की पूजा की और मधुर कंठ से प्रभु की स्तुति की ।

परमात्मा की पूजा व भक्ति कर कनकरथ कुमार व वह कन्या मंदिर में से बाहर आई । उस कन्या ने कनकरथ कुमार को देखा । कनकरथ कुमार के बलिष्ठ व सुदृढ देह एवं अद्‌भुत रूप सौंदर्य को देखकर वह कन्या एकदम मोहित हो गई और सोचने लगी 'अहो ! क्या यह इन्द्र है, चंद्र हैं...साक्षात् सूर्य हैं...देव है अथवा कामदेव है !'

'अरे ! चंद्र तो कलंकी है । सूर्य तो तीक्ष्ण किरणों वाला है ! तो फिर यह कौन है ?'

इसी समय कुमार ने एक वृद्ध जटाधारी साधु को देखा ।

कुमार को देखकर उस जटाधारी साधु ने पूछा, 'तुम कौन हो ? कहाँ से आए हो और कहाँ जा रहे हो ?'

वृद्ध साधु के इन प्रश्नों को सुनकर कुमार ने अपना विस्तृत परिचय दिया । कुमार ने वृद्ध साधु के पास खडी उस देवांगना जैसी कन्या को पुनः प्रेम सभर नजरों से देखा !

कुमार ने पूछा, 'महात्मन् ! यह मंदिर किसने बनवाया है और यह कन्या कौन है ?'

महात्मा ने कहा, 'कुमार ! इस मंदिर के निर्माण के पीछे लंबा-चौडा इतिहास रहा है । प्रभु पूजा के बाद मैं वह विस्तृत इतिहास तुम्हें सुनाऊंगा ।' इतना कहकर वह साधु मंदिर में चला गया । उसने भावपूर्वक प्रभु की पूजा की । मंदिर में से बाहर निकलने के बाद वह वृद्ध साधु राजकुमार को अपनी झोपडी में ले गया । उस संन्यासी ने कुमार का हार्दिक स्वागत किया । उसके बाद जलपान नाश्ता कराया ।

फिर दोनों एक पलंग पर बैठ गए । वृद्ध संन्यासी ने मंदिर के इतिहास को सुनाते हुआ कहा, 'यही पास में देवों की नगरी अमरावती के समान मित्रावती नाम की नगरी थी ।' उस नगरी में हरिषेण नाम का राजा था । उस राजा की रानी का नाम प्रियदर्शना था । उस राजा-रानी के अजितसेन नाम का राज पुत्र था ।

एक बार वह राजा वन भ्रमण के लिए घोडे पर बैठकर निकला । परन्तु वह घोडा विपरीत शिक्षित होने से वह राजा ज्यों-ज्यों उस घोडे को रोकने के लिए लगाम को खींचनें लगा, त्यों-त्यों वह घोडा पवन की भांति द्रुत गति से दौडने लगा । घोडे पर सवार वह राजा अपनी नगरी से बहुत दूर एक भयंकर जंगल में आ पहुँचा । आखिर घोडे पर दौडते हुए राज़ा ने वट वृक्ष की शाखा पकड ली । राजा वहीं रुक गया और घोडा आगे बढ गया । उसके बाद वह राजा अत्यंत सावधानी पूर्वक नीचे उतरा ।

पास के सरोवर में से मीठा जल पीकर उसने अपनी तृषा शांत की । उसके बाद उसने पास ही के आश्रम में प्रवेश किया । उस आश्रम में अनेक संन्यासी महात्मा थे । राजा ने उन संन्यासियों के कुलपति विश्वभूति को देखा । राजा ने भाव पूर्वक कुलपति मुनि के चरणों में वंदन किया । विश्वभूति मुनि ने भी राजा को शुभाशीष प्रदान की ।

कुलपति ने पूछा, 'तुम कौन हो और यहां अकेले कैसे आए हो ?'

राजा कुलपति महोदय को अपना परिचय दे रहा था, तभी जंगल में चारों

ओर कोलाहल सुनाई दिया । वे संन्यासी परस्पर एक-दूसरे को इस आवाज का कारण पूछने लगे । तभी राजा ने कहा, `मैं अनुमान करता हूँ कि मेरी शोध के लिए मेरा सैन्य आ गया लगता है । अतः एक बार मैं अपनें सैन्य को अपना मुंह बता दूँ तत्पश्चात् आकर आगे की बात करुंगा । वह राजा कुलपति के पास से खडा हो गया । वह अपने सैन्य के सन्मुख आगे बढा ।

जैसे ही उस सेना ने राजा के दर्शन किए...वे प्रसन्न हो गए । राजा को प्राप्त कर वे चिंतामुक्त बन गए ।

वह राजा वापस कुलपति के पास आ गया । हरिषेण राजा को आश्रम का शांत स्थान पसंद पड गया । वह एक मास तक वहीं पर रहा । उसी राजा ने यह मंदिर बनवाया है ।

एक महिनें के बाद जब हरिषेण राजा अपने नगर की ओर लौटने लगा, तब प्रसन्न हुए कुलपति ने उस राजा को एक विषापहार मंत्र प्रदान किया ।

हरिषेण राजा ने अत्यंत ही धूमधाम के साथ उस नगर में प्रवेश किया । उसके बाद वह न्याय व नीतिपूर्वक राज्य का पालन करने लगा ।

एक बार वह राजा अपनी राजसभा में सिंहासन पर बैठा हुआ था, तभी एक दूत ने आकर राजा को प्रणाम कर कहा, `हे स्वामिन् ! पास में ही मंगलवती नगरी के प्रियदर्शन राजा की महारानी विद्युत्प्रभा की कुक्षी से उत्पन्न हुई प्रीतिमति नाम की नवयौवना राजकन्या को किसी दुष्ट सर्प ने डंस ली है । अनेक बाह्य उपचार करने पर भी वह विष मुक्त नहीं बन पाई है । सुना हैं कि आपके पास विषापहार मंत्र है ।

हे स्वामिन् ! आप उस राज कन्या को जीवन दान देने की कृपा करे । वह राजा आपके उपकार को कभी नहीं भूल पाएगा ।'

दूत की इस बात को सुनकर हरिषेण राजा ने सोचा, `मुझे प्राप्त मंत्र से यदि किसी को अभयदान मिलता हो तो इससे श्रेष्ठ उस मंत्र का और क्या उपयोग हो सकता है ?' इस प्रकार विचार कर परोपकार में कर्मठ वह राजा तत्क्षण अपने सिंहासन पर से खडा हो गया और द्रुतगति वाली सांडनी पर सवार होकर थोडी देर में मंगलावती नगरी में पहुंच गया । राजा ने कुलपति द्वारा प्रदत्त उस विषापहार मंत्र के प्रयोग से उस राजकुमारी को विषमुक्त कर दी । अपनी कन्या को विष मुक्त देखते ही प्रियदर्शन राजा प्रसन्न हो गया । तत्काल उसने अपनी कन्या हरिषेण राजा को प्रदान करने का निर्णय कर लिया । बडे ही धूमधाम के साथ हरिषेण राजा के साथ उसने अपनी पुत्री का पाणिग्रहण करा दिया ।

हरिषेण राजा ने अपनी नवोढा पत्नी के साथ महोत्सव पूर्वक अपने नगर में

प्रवेश किया। समय बीतने लगा और एक शुभ दिन उस प्रीतिमति रानी ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। राजा ने उस कुमार का नाम `धार' रखा।

धीरें धीरें वह राजकुमार बडा होने लगा। एक दिन किसी अकाल मृत्यु की घटना को देखकर हरिषेण राजा को इस संसार के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया। उसने बाल राजकुमार का राज्याभिषेक करा दिया और राज्य की समस्त जवाबदारी कुशल मंत्रियों के कंधों पर डालकर अपने संसार त्याग की घोषणा करा दी। यद्यपि राजा की रानी प्रीतिमति को गर्भ रह चूका था...परन्तु उसने वह बात किसी को नहीं कही और स्वयं रानी ने भी तापसी दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया।

एक शुभ दिन हरिषेण राजा व प्रीतिमति रानी राज्य के समस्त वैभव का परित्याग कर आश्रम की ओर चल पडे। सबसे आगे राजा व रानी चल रहे थे...उनके पीछे पीछे आंखों में आंसु बहाते हुए सभी प्रजाजन चल रहे थे।

क्रमशः आगे बढते हुए राजा व रानी आश्रम के निकट पहुंचे। राजा ने सभी प्रजाजनों को आश्वासन दिया और उन्हें वापस लौटने के लिए निवेदन किया।

प्रजाजनों ने महाराजा के लिए शुभ कामनाएँ व्यक्त की और उनका मार्ग निष्कंटक बने, ऐसी प्रभु से प्रार्थना की।

तत्पश्चात् राजा व रानी ने आश्रम में प्रवेश किया। विश्वभूति कुलपति ने उन दोनों को तापसी दीक्षा प्रदान की। तापस वेष में रहे राजा व रानी विश्वभूति कुलपति की सेवा शुश्रुषा करने लगे।

समय बीतने लगा और प्रीतिमती तापसी के देह पर गर्भ के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगे। अपनी पत्नी के गर्भ चिन्ह को देखकर हरिषेण तापस ने पूछा, `अरे यह क्या ? यह गर्भ किससे रहा ?' इन प्रश्नों को सुनकर प्रीतिमति भी लज्जित हो गई। उसने कहा, `गृहस्थ जीवन में आपसे ही यह गर्भ रहा हुआ है।'

तो फिर सन्यास जीवन को स्वीकार करने से पहले तुमने यह बात क्यों नहीं की ?

तापसी ने कहा, `संयम में अंतराय के भय से मैंनें पहले यह बात नहीं की।'

हरिषेण ने कहा, `तुम्हारी इस भूल से हम तपस्वियों में लज्जापात्र बनेंगें। तापस आश्रम में गर्भ की घटना सभी के दिल में शंका कुशंका पैदा करती है। तापस जीवन का स्वीकार तो ब्रह्मचर्यव्रत के स्वीकार का प्रतीक है। यहां आने के बाद गर्भ के चिन्ह दिखाई दे, यह तो हम सबके लिए भी लज्जा की बात है।'

हरिषेण तापस सोच में पड गया। `अब क्या किया जाय ?' वह रात भर सोचता ही रहा।

आखिर उसने निर्णय लिया कि इस तापस आश्रम में हमें यहां रहना ठीक नहीं है। इस घटना से तापस आश्रम भी कलंकित होगा। आखिर राजा व रानी उस आश्रम वन को छोडकर शुन्य वन की ओर आगे बढने लगा। आगे बढने पर उन्होंने पुष्प नाम के तापस को देखा।

हरिषेण ने कहा, `मेरी पत्नी ने गर्भ की बात नहीं कह कर अच्छा नहीं किया। अतः मैं अन्यत्र चलता हूँ।'

मुनि ने कहा, `इसमें तुम्हारा दोष कहाँ हैं ? अतः निरर्थक चिंता न करे।'

अंत में राजा व रानी वसुभूति नाम के वृध्द मुनि की सेवा में रहे।

धीरें धीरें समय बीतने लगा। राजा व रानी बारबार अपनी भूल का पश्चात्ताप करने लगे। इस प्रकार प्रीतिमती तापसी ने नौ मास पूर्ण किए और उसने एक पुत्री को जन्म दिया। पुत्री के जन्म समय प्रीतिमति को अत्यधिक पीडा हुई और उस प्रसव की वेदना में ही उसकी अकाल मृत्यु हो गई।

ऋषि के आश्रम में पैदा होने के कारण उस पुत्री का नाम `ऋषिदत्ता' रखा गया। धीरें धीरें ऋषिदत्ता बडी होने लगी। यह ऋषिदत्ता मेरी ही पुत्री है। मैंने ही इसका पालन-पोषण किया है।

इसके अद्भुत रुप को देख कर कोई इसका अपहरण न कर ले...इसके लिए मैंनें `अदृश्यकारी' अंजन तैयार किया है। इस अंजन के प्रभाव से कभी यह दिखाई पडती है और कभी अदृश्य हो जाती है। अदृश्य होकर यह जंगल में सुख पूर्वक परिभ्रमण कर सकती है।

पुनः ऋषिदत्ता को देख कनकरथ राजकुमार उसके प्रति मोहित हो गया।

हरिषेण तापस ने देखा, `मेरी पुत्री यौवन के प्रांगण में प्रवेश कर चूकी हैं अतः क्यों न इस तेजस्वी राजकुमार को अपनी कन्या प्रदान कर इस कन्या के भार में से मैं मुक्त बन जाऊं ? अब मेरे जीवन का भी कोई भरोसा नहीं है इस प्रकार विचार कर हरिषेण तापस ने कहा, `कुमार ! तुम्हारे औचित्य पूर्ण व्यवहार से मुझे पूर्ण संतोष है।' अब मैं वृध्द हो चूका हूँ...इस कन्या के भार से मुक्त होना चाहता हूँ...मेरी पुत्री के लिए तुम सुयोग्य वर हो, अतः तुम इस कन्या का स्वीकार करो।'

हरिषेण तापस की इस बात को सुनकर लज्जा से ऋषिदत्ता अधोमुखी हो गई।

ऋषिदत्ता के रुप व गुणों से आवर्जित बने कनकरथ ने तुरंत ही अपनी सम्मति प्रदान कर दी।

बस, उसी समय लग्न-मंडप तैयार किया गया और बडे ही उत्साह के

साथ में कनकरथ व ऋषिदत्ता के पाणिग्रहण का उत्सव मनाया गया।

लग्न जीवन की स्वीकृति के बाद कई दिनों तक कनकरथ ऋषिदत्ता के साथ उसी आश्रम में रहा।

एक दिन हरिषेण तापस ने गद्‌गद्‌ वाणी से कुमार को कहा, `हे कुमार ! तुम्हारे ऊपर पूर्ण विश्वास रखकर मैंने यह कन्या तुम्हें अर्पित की हैं, अतः इसका अच्छी तरह से रक्षण करना। जंगल में पली हुई होने के कारण यह अत्यंत ही भोली भाली है, अतः इसके कोमल दिल को किसी प्रकार का आघात न लगे, इसके लिए पूर्ण सावधानी रखना। तुम अत्यंत ही गुणवान् हो, अतः तुम्हारे संग से मेरी पुत्री भी गुणवान् बनेगी। मृग की नाभि में गई धूल भी सुगंधी हो जाती हैं, अतः तुम्हारे साथ रहने से यह भी सुखी हो जाएगी।

अब मेरा देह जर्जरित हो चूका हैं, वृद्धावस्था की पीडा को सहन करने में मैं अक्षम बन चूका हूँ अतः अग्नि में प्रवेश कर अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर देना चाहता हूँ।

वृद्ध तापस की इस बात को सुनकर कुमार ने तापस के चरणों में गिरकर कहा, `आप अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राणत्याग न करे। इस प्रकार आत्महत्या करना तो दुर्गति का कारण है।'

उसी समय आंखों में से श्रावण भादो बरसाती हुई ऋषिदता भी बोली, `हे तात ! आपके दामाद जो कह रहे हैं, उन्हें आप स्वीकार करे। आप इस प्रकार अग्नि में प्रवेश कर अपनी जीवन-लीला समाप्त न करे।'

कुमार व पुत्री के दर्दभरे वचनों को सुनकर तापस मुनि ने कहा, `वत्से ! तूं शोक मत कर।' मेरी इन शिक्षाओं को ध्यान पूर्वक याद रखना।

१. गुरुजनों की सेवाशुश्रुषा करना।

२. हमेंशा शील धर्म का पालन करना।

३. अपनी शोक्या के प्रति भी कोप मत करना।

४. सुख और दुःख में भी धर्म को मत भूलना क्योंकि इस जगत् में एक मात्र धर्म ही प्राणियों के लिए माता और पिता तुल्य है।

मैं एकदम वृद्ध हो चूका हूँ। वृद्धत्व के भार को वहन करने में मैं पूर्णतया अक्षम हूँ। मेरी चिंता तुम छोड दो। अब तो मेरे लिए मरण ही शरण हैं। इतना कहकर पंच परमेष्ठी के ध्यान में परायण उस तापस मुनि ने अग्नि में प्रवेश कर लिया।

पिता मुनि के अग्नि-प्रवेश के साथ ही ऋषिदत्ता भूमि पर ढल पडी और एकदम करुण कल्पांत विलाप करने लगी।

हे तात ! आप मुझे छोडकर कहाँ चले गए ? आप ही मेरे परम आधार थे। मैंनें जन्म के बाद माता का मुख भी नहीं देखा था। आप ही मेरी माता थे। अहो ! अब आपका भी मेरे लिए वियोग हो गया ?

यद्यपि कनकरथ को भी हरिषेण तापस मुनि के वियोग से अत्यंत आघात लगा था...परन्तु अब उस वियोग की वेदना को सहन किए बिना छुटकारा नहीं था। कनकरथ ने ऋषिदत्ता को खूब आश्वासन दिया और उसे शांत की।

कनकरथ ने सोचा, 'अब यहां रहेंगें तो ऋषिदत्ता को अपने पिता की याद ज्यादा सताएगी, अतः क्यों न यहां से प्रयाण कर दिया जाय।' इस प्रकार विचार कर एक दिन उसने पुनः अपने नगर की ओर प्रयाण प्रारंभ कर दिया...और कुछ ही दिनों बाद वह अपने नगर लौट आया।

महाराजा ने अपने नवविवाहित पुत्र व पुत्रवधु का भव्य प्रवेश महोत्सव कराया।

कनकरथ ने अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया। ऋष्दित्ता ने भी अपने सास-खसुर के चरणों में प्रणाम किया।

ऋषिदत्ता के अद्भुत रुप, विनय, नम्रता, सरलता, वाणी में मधुरता, कोमलता आदि गुणों से पूरा परिवार खुब खुब प्रभावित हुआ।

कनकरथ के माता-पिता भी गुणवान् पुत्रवधु को पाकर खुश हो गए।

ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता हैं, व्यक्ति अपने भूतकाल को भूलता जाता है। दुःख का औषध काल ही है। ऋषिदत्ता को अपने पिता के वियोग की जो वेदना थी, वह धीरें-धीरें कम होने लगी। वह अपने मृदु स्वभाव के कारण परिवार में एकदम घुल मिल गई। समय बीतने लगा।

2. ईर्ष्या की आग

स्त्री में कोमलता, सहनशीलता, वात्सल्य आदि अनेक गुण होते है। प्रसव की पीडा को स्त्री ही सहन कर सकती है। संतान को पूर्ण प्रेम व वात्सल्य, माता ही प्रदान कर सकती है। फिर भी वो स्त्री जब ईर्ष्या की शिकार बन जाती है, तब वह भयंकर से भयंकर कुकृत्य करने के लिए भी तैयार हो जाती है।

कनकरथ राजकुमार काबेरी की राजपुत्री रुक्मिणी के साथ पाणिग्रहण करने के लिए निकला था...परन्तु बीच मार्ग में ऋषिदत्ता जैसी रुपवान् व गुणवान् कन्या के साथ पाणिग्रहण हो जाने के कारण उसने रुक्मिणी के साथ पाणि-ग्रहण करने का विचार ही छोड दिया था।

जब रुक्मिणी को इस बात का पता चला कि उसके भावि पति ने बीच मार्ग में ही ऋषिदत्ता के साथ शादी कर ली हैं, तब उसके आघात का पार न रहा। रुक्मिणी अपने हृदय से कनकरथ को चाहती थी। उसके दिल में कनकरथ को छोड अन्य किसी को स्थान नहीं था।

रुक्मिणी चिंता सागर में डूब गई, `क्या कनकरथ राजकुमार मेरे साथ पाणिग्रहण नहीं करेगा ? क्या वह मुझे अपनी पत्नी नहीं बनाएगा ? क्या इस जीवन में मैं उन्हें प्राप्त नहीं कर पाऊंगी ?' इस प्रकार चिंता-सागर में डूबी हुई रुक्मिणी एकदम हताश हो गई। उसका सारा आनंद समाप्त हो गया।

दु:ख के गर्त में डूबी हुई रुक्मिणी को अचानक एक योगिनी (जोगिनी) नारी से संपर्क हो गया। अपनी मनोकामना को पूर्ण करने के लिए रुक्मिणी ने उस योगिनी की खूब सेवा भक्ति की और उसे प्रसन्न की।

रुक्मिणी ने सोचा, `ऐसे तो मेरे भावि पति मुझ से लग्न करने के लिए आनेवाले नहीं हैं, परन्तु इस योगिनी की मदद से वे जरुर आ सकेंगें।' इस प्रकार विचार कर उस रुक्मिणी ने उस योगिनी को प्रसन्न करने के लिए कहा, `यदि तुम मेरा काम सिद्ध कर दोगी तो मैं तुम्हें मुंह मांगा धन दूंगी।'

योगिनी ने कहा, `कौन सा कार्य हैं ?'

रुक्मिणी ने कहा, `रथमर्दनपुर के राज पुत्र के साथ मुझे पाणिग्रहण करने का है।' वे यहा आने के लिए अपने मित्र परिवार के साथ निकल पडे थे, परन्तु बीच मार्ग में ही उन्होंनें ऋषिदत्ता के साथ शादी कर ली हैं...अत: जब तक ऋषिदत्ता जीवित है, तब तक तो वे यहां आए, ऐसी कोई संभावना दिखाई नहीं पडती हैं, अत: ऐसा कोई उपाय करे कि जिससे इस ऋषिदत्ता का पत्ता कट जाय और कनकरथ के साथ मेरा पाणिग्रहण हो जाय।'

रुक्मिणी की इस बात को सुनकर योगिनी ने कहा, ``बहिन ! तुम सब चिंता छोड दो...मैं तुम्हारा सब काम निपटा दूंगी। ऐसा सुंदर उपाय करुंगी कि कनकरथ यहां आए बिना नहीं रहेगा।''

रुक्मिणी ने कहा, `मेरे इस कार्य की सिद्धि के लिए धन आदि की आवश्यकता हो तो मुझे कह देना।'

योगिनी ने कहा, ``मंत्र की सिद्धि के लिए कुछ सामग्री की आवश्यकता रहेगी।''

``तुम वह सब सामग्री बाजार से खरीद लेना-उसका मूल्य मैं चूका दूंगी।'' रुक्मिणी ने कहा।

...और एक दिन योगिनी ने अपनी कपट-लीला चालू कर दी ।

वह योगिनी रथमर्दनपुर चली गई । वहां जाकर उसने अपनी मंत्र-साधना प्रारंभ कर दी ।

रात्रि का समय था । उस योगिनी ने अपनी मलिन-विद्या के बल से नगर में किसी व्यक्ति की हत्या की । उसके बाद वह गुप्त रुप से ऋषिदत्ता के शयनखंड में पहुँच गई और उसने ऋषिदत्ता के मुख पर खून के दाग लगा दिए और उसके तकिए के पास मांस के टूकडे बिखेर दिए ।

अपनी विद्या के बल से यह सारा नाटक कर वह योगिनी नगर में अन्यत्र छुप कर रह गई ।

इधर किसी पुरुष की हत्या होने से नगर में चारो ओर कोलाहल मच गया । हत्यारे को पकडने के लिए चारो ओर छानबीन...अनेक उपाय करने पर भी वह हत्यारा पकडा नहीं गया ।

नगर में हो रहे कोलाहल को सुनकर अपने शयनखंड में सो रहे कनकरथ की निद्रा भंग हो गई । अचानक उसने पास में सो रही ऋषिदत्ता के मुख को देखा...खून से लिप्त उसके मुख को देखकर कनकरथ के आश्चर्य का पार न रहा । उसने ऋषिदत्ता के तकिए के पास भी मांस के टुकडे देखा । यह सब देख वह सोच में पड गया ।

उसने ऋषिदत्ता को जगाया और मुंह पर लगे खून के दाग बताए । ऋषिदत्ता ने दर्पण में अपना मुंह देखा और उसके भी आश्चर्य का पार न रहा ।

कनकरथ ने उसका कारण पूछा ।

ऋषिदत्ता ने सरल हृदय से कहा, `मुझे कुछ भी मालूम नहीं है ।'

कनकरथ के कहने से उसने अपना मुंह साफ कर दिया और मांस के टुकडे बाहर फेंक दिये ।

दूसरे दिन की रात्रि में उस घटना का पुनरावर्तन हुआ । नगर में किसी नव-युवक की हत्या हो गई । लोगों ने जाकर राजा को निवेदन किया कि नगर में रोज-रोज हत्याएँ हो रही हैं, अतः उस हत्यारे को पकडा जाय और उसे कडी सजा की जाय ।

राजा ने सभी चौकीदारों और सैनिकों को आदेश दिया कि हत्यारे को शीघ्र पकड कर मेरे सामने प्रस्तुत किया जाय ।

रात और दिन प्रयास करने पर भी वे सैनिक हत्यारे को पकडने में सफल नहीं हो पाए । आखिर अनुमान किया गया कि कोई अदृश्य शक्तिवाला व्यक्ति ही

इस प्रकार की हत्याएँ कर सकता है ।

इधर दूसरे-तीसरे दिन की रात्रि में भी जब कनकरथ ने अपनी पत्नी ऋषिदत्ता के मुंह को खून से लथपथ देखा और आसपास मांस के टुकडे देखे तो उसके मन में संदेह पैदा हुआ, `क्या मेरी पत्नी राक्षसी तो नहीं हैं ? क्या वो तो प्रतिदिन नगर में हत्याएँ नहीं कर रही हैं ?' इस प्रकार अनेक कुविकल्पों को करते हुए राजकुमार कनकरथ ने ऋषिदत्ता को जगाकर पूछा-`नगर में प्रतिदिन रात्रि में एक-एक पुरुष की हत्या हो रही है । क्या यह कार्य तुम तो नहीं कर रही हो ?'

ऋषिदत्ता तो यह सुनकर एकदम स्तवध हो गई ।

उसने कहा, `आपके दिल में यह कल्पना कैसे आई ?'

कनकरथ ने कहा, `देख, तेरा मुंह खून से लथपथ है और तेरे तकिये के आसपास भी मांस के टुकडे पडे है ।'

`स्वामिन् ! मैंनें अपने जीवन में न तो कभी किसी जीव की हत्या की हैं और न ही कभी मांसाहार किया हैं, क्या आप मेरे पूर्व जीवन से परिचित नहीं हैं ?' मुझे लगता है कि सिर्फ मुझे बदनाम करने के लिए ही यह षड्यंत्र रचा गया है । सचमुच, मेरे ही अशुभ कर्म के उदय का फल है । पता नहीं, अब क्या होगा ? मेरा दाहिना नेत्र भी स्फुरित हो रहा है । इस आपत्ति में आप ही मेरे लिए परम आधार हो ।' इस प्रकार बोलती हुई ऋषिदत्ता की आंखें भी अश्रुभिनी हो गई ।

ऋषिदत्ता के इन वचनों को सुनकर कनकरथ ने आश्वासन देते हुए कहा, `जब तक मेरे देह में प्राण है, तब तक मैं तेरा बाल भी बांका होने नहीं दूंगा । तूं निश्चिंत रह ।'

कनकरथ व ऋषिदत्ता के बीच इस प्रकार वार्तालाप होने के बाद भी प्रतिदिन नगर में एक-एक व्यक्ति की हत्या होती रही और ऋषिदत्ता का मुंह खुन से लथपथ होता रहा । कनकरथ उसके मुंह को साफ कराता रहा ।

एक दिन राजा ने मंत्रियों को कठोर शब्दों में आदेश देते हुए कहा-`किसी भी उपाय से उस दुष्ट को पकड लिया जाय ।'

किसी एक मंत्री ने कहा, `राजन् ! हत्या का यह कार्य करनेवाला कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, कोई साधु-संन्यासी या बाबा-फकीर होना चाहियें ।'

राजा ने कहा, `यदि जरुरत पडे तो उन सबको नगर में से बाहर निकाल दो ।'

मंत्री ने कहा, `इस संबंध में जल्दी ही निर्णय लेकर योग्य कदम उठाया जाएगा ।'

राजा के आदेश की गंध उस दुष्टा योगिनी को आ गई । उसने देखा `अब

जल्दी ही मुझे अपना कार्य सिद्ध कर देना होगा ।' इस प्रकार विचार कर वह उसी दिन शाम को महाराजा के पास पहुंच गई और औपचारिक बातचीत करने के बाद बोली, ``राजन् ! मैं आपसे एकांत में मिलना चाहती हूँ ।''

राजा ने तत्काल अन्य सभासदों को बाहर जाने के लिए आदेश दे दिया ।

एकांत देखकर अत्यंत ही मीठे व मधुरे शब्दों द्वारा राजा के दिल को जीतते हुई बोली, ``राजन् ! नगर में प्रतिदिन हो रही हत्याओं का भेद मुझे मिल गया हैं...परन्तु जहां तक मैं सोचती हूँ...आप मेरे शब्दों पर विश्वास नहीं करेंगें ।''

``नहीं ! नहीं ! ऐसी कोई बात नहीं है जो हो सो सत्य कहो, ताकि एक समस्या का शीघ्र अंत आ जाय ।''

योगिनी ने अवसर देखकर कहा, ``राजन् ! कल ही स्वप्न में किसी देव ने आकर मुझे कहा, `नगर में सभी साधु-सन्यासी तो निर्दोष है, नगर में हो रही हत्याओं का मूल तो राजमहल में ही है ।''

मैंने पूछा, ``वह कौन हैं ?''

देव ने कहा, ``वह है ऋषिदत्ता ।''

``राजन् ! आपके घर की गुप्त बात मुझे प्रगट नहीं करनी चाहिये...परन्तु प्रजाहित को ध्यान में रखकर ही मैंनें यह भेद प्रगट किया...अब इसके लिए आप मुझे सजा भी कर सकते है और इनाम भी दे सकते हैं मैंनें तो सिर्फ अपना कर्तव्य अदा किया है ।''

`ऋषिदत्ता' का नाम सुनकर राजा एकदम चोंक उठा ।

राजा ने कहा, ``मुझे विश्वास नहीं आ रहा हैं कि जंगल में पली निर्दोष ऋषिकन्या ऋषिदत्ता ऐसा पाप कर सकती है ?''

``राजन् ! आप विश्वास-अविश्वास की बात छोड दे । आज रात्रि में आप स्वयं ही उसके करतूत को देख सकते है । स्त्री की कपट-लीला को स्त्री ही जान सकती है । आज रात्रि में आप स्वयं प्रत्यक्ष देख सकोगे ।''

इतना कहकर उस योगिनी ने वहां से विदाई ले ली ।

संध्या के समय जब राजकुमार कनकरथ राजा को मिलने के लिए आया, तब राजा ने कहा, ``बेटा ! आज मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं हैं, आज तुम मेरे पास ही रहना ।''

पिता की इस बात को सुनकर राजकुमार कनकरथ संदेह में डूब गया । क्या आज मेरी निर्दोष पत्नी पर कोई कलंक मढ जाएगा ? क्या उसकी निर्दोषता पर कुठाराघात होगा ? प्रभो ! मैंनें उसे पूर्ण विश्वास दिलाया था कि मेरे होते तुम्हारा कोई बाल भी बांका नहीं कर सकेगा । अहो ! हे प्रभो ! तूं ही उसका बेली है । उसकी

लाज तेरे ही हाथो में है ।

रात्रि का समय हुआ ।

राजकुमार कनकरथ अपने पिता के महल में ही सोया हुआ था...परन्तु आज उसकी नींद हराम हो चूकी थी ।

इधर ऋषिदत्ता को आश्वासन देकर ज्योंहि कनकरथ अपने पिता के महल की ओर आगे बढने लगा, त्योंहि ऋषिदत्ता का दाहिना नेत्र स्फुरित होने लगा । अमंगलता के भावि भय से उसका हृदय कांप उठा । फिर भी प्रभु का स्मरण कर वह पलंग पर लेट गई ।

3. भयंकर कलंक

रात्रि का समय धीरें धीरें बीतने लगा । रात्रि मे एक प्रहर पूरा होने के साथ ही नगर में किसी पुरुष की हत्या हो गई । राजा के आदेश से कुछ गुप्तचर लोग ऋषिदत्ता के महल की चारों ओर चौकी कर रहे थे ।

रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने के बाद रोज के क्रम के अनुसार आज भी ऋषिदत्ता का मुंह खून से लथपथ हो चूका था और उसके पलंग के आसपास मांस के टुकडे भी बिखरे हुए पडे थे ।

जैसे ही एक गुप्तचर ने खिडकी में से झांककर ऋषिदत्ता के शयनखंड में नजर की, वह एकदम चोंक उठा । अहो ! नगरवासियों की हत्यारिन तो यह राजा की पुत्र-वधु है ।

तुरंत ही गुप्तचर ने जाकर राजा को सारे समाचार दिए । राजा ने भी प्रत्यक्ष अपनी आंखों से ऋषिदत्ता के मुख को खून से लथपथ देखा और आसपास पडे मांस के टुकडे देखे । यह दृश्य देख वह आगबबुला हो उठा । उसने राजकुमार को ठपका देते हुए कहा, `अरे कुलांगार ! अपनी पत्नी के राक्षसी चरित्र को जानते हुए भी तुमने यह बात प्रगट नहीं की ?'

कनकरथ ने कहा, `पिताजी ! मेरी पत्नी निर्दोष है । आप व्यर्थ ही उस पर आरोप लगा रहे है ।'

राजा ने कहा, `चल, तूं भी मेरे साथ चल और अपनी पत्नी के कृकृत्य को प्रत्यक्ष देख ले ।'

राजा अपने पुत्र को लेकर ऋषिदत्ता के महल के पास आ गया और उसने अपने पुत्र को भी खून से लथपथ ऋषिदत्ता का मुंह बतलाया ।

ऋषिदत्ता के पवित्र चरित्र को जानते हुए भी राजकुमार के पास ऋषिदत्ता के

बचाव के लिए अब कोई अवकाश नहीं था । उसे पूर्ण विश्वास था कि `निर्दोष ऐसी मेरी पत्नी किसी दुष्ट व्यक्ति की शिकार हो गई है । उसे बदनाम करने के लिए ही यह सारा षड्यंत्र रचा गया है ।'

बस, तत्काल राजा ने दंडपाशिक को आदेश देते हुए कहा, `इस दुष्टा राक्षसी को नगर के बाहर ले जाकर मार डालो ।'

राजा की आज्ञा होते ही दूसरे दिन उस ऋषिदत्ता को काला मुंह करके नगर में घूमाया गया और वे दंडपाशिक उसे श्मशान घाट पर ले गए ।

निर्दोष व पवित्र ऋषिदत्ता पर आई इस आपत्ति को जानकर सारे नगरवासी भी श्मशान घाट पर आ गए और आंखों में से आंसु बहाने लगे ।

संध्या का समय हो चूका था । वह सूर्य भी निर्दोष ऐसी ऋषिदत्ता को दिए जा रहे दंड को देखने में असमर्थ होने से भी अस्ताचल की गोद में छिप गया था । नगरजनों के रुदन को देखकर वे दंडपाशिक उस ऋषिदत्ता को भयंकर जंगल में ले गए । उसे खत्म करने के लिए एक दंडपाशिक ने ज्योंहि तलवार उठाई...त्योंहि तलवार के भय से वह ऋषिदत्ता भूमि पर मूर्च्छित होकर गिर पडी ।

ऋषिदत्ता को मूर्च्छित देखकर दंडपाशिक्ष ने सोचा, `यह स्वयं ही मर चूकी हैं तो इसे मारने की क्या जरुरत हैं ?' इस प्रकार विचार कर वे दंडपाशिक तलवार से कुछ भी प्रहार किए बिना ही वापस अपने नगर में लौट आए और उन्होंनें राजा को समाचार दे दिए कि उन्होंने ऋषिदत्ता की हत्या कर दी है ।'

ऋषिदत्ता की हत्या के समाचार सुनते ही राजकुमार कनकरथ मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पडा ।

राजा व रानी ने जल छंटकाव कर उसकी मूर्च्छा दूर की और उसे ऋषिदत्ता को भूल जाने के लिए खूब-खूब समझाया ।

राजकुमार की दृष्टि में ऋषिदत्ता संपूर्ण निर्दोष थी...परन्तु राजा व रानी की दृष्टि में तो दोषित ही थी । राजकुमार के सामने यही समस्या थी कि वह ऋषिदत्ता को किस प्रमाण से निर्दोष सिद्ध कर सके । उसके पास कोई उपाय नहीं था ।

मारनेवाले से बचानेवाले के चार हाथ होते है । हेमरथ राजा के दंडपाशिक पुरुष *ऋषिदत्ता को मृत समझ कर उसे जंगल में ही छोडकर चले गए थे ।* ऋषिदत्ता बेहोश पडी थी । धीरें धीरें रात्रि में शीतल पवन की लहरों से ऋषिदत्ता होश में आई ।

प्रात:काल हो चूका था...चारों ओर प्रकाश फैल चूका था...परन्तु ऋषिदत्ता के जीवन में तो अभी गाढ अंधकार ही था । चारों ओर पक्षियों का मधुर कलरव

सुनाई दे रहा था, परन्तु ऋषिदत्ता के जीवन में कही कोई आनंद नहीं था ।

वह अपने कर्म को दोष देती हुई बोली, `हे आत्मन् ! गत भव में तुमने हंसते हंसते भयंकर कोटि के पाप कर्मों का बंध किया हैं, उसी के परिणाम स्वरुप आज तेरी यह दुर्दशा हुई है । जिन पाप कर्मों का बंध किया हैं, उन पाप कर्मों की सजा सहन किए बिना छूटकारा नहीं है । हे आत्मन् ! उत्साह पूर्वक पाप कर्मों का बंध किया है तो उन कर्मो की सजा भी उत्साह पूर्वक सहन करनी चाहियें । पाप कर्मों की सजा को रोते रोते सहन करने से वे पाप कर्म छूटने वाले नहीं हैं, बल्कि नवीन पाप कर्मों का ही बंध होने वाला है ।

हे आत्मन् ! तुमने पूर्व भव में किसी निर्दोष प्राणी पर झूठा आरोप लगाया होगा, उसी का यह कटु परिणाम है कि आज तुम सर्वथा निर्दोष होते हुए भी तुम कलंकित बनी हो ।'

इस प्रकार के शुभ-विचारों द्वारा ऋषिदत्ता अपनी आत्मा को पुनः पुनः समझाने लगी ।

मार्ग-भ्रष्ट बनी ऋषिदत्ता अपनी सुरक्षा के लिए जंगल में एक दिशा की ओर आगे बढने लगी...इस प्रकार क्रमशः आगे बढती हुई वह अपने पिता के आश्रम में पहुंच गई ।

जिस भूमि पर उसके पिता मुनि ने आत्म-दहन (अग्नि-स्नान) किया था, उस स्थान को देख, उसे अपने पिता मुनि की याद ताजी हो गई । वह अत्यंत ही करुण विलाप करती हुई बोली, `हे तात ! आप अपनी इस इकलौती बेटी को रोती-बिलखती छोडकर कहां चले गए ? आपकी यह पुत्री अमाप दु:ख के महासागर में डूबी हुई है । आप उसके ऊपर करुणा करे । मैं शरण हीन हूँ...आप मेरी रक्षा करे । हे तात ! इस शुन्यवन में आपके बिना मैं अत्यंत ही दु:खियारी हूँ । मैं किसके आगे पुकार करुं ? मेरी वेदना को सुननेवाला कौन हैं ?

हे तात ! जब आप जीवित थे, तब यह वन मेरे लिए नंदनवन समान था परन्तु आज आपके चले जाने से यह वन मेरे लिए अत्यंत ही भयंकर हो गया है ।

हे तात ! `यदि मैं आपको जीवित देखूं तो मेरे लिए दु:ख भी उत्सव रुप बन जाय ।'

इस प्रकार करुण विलाप करती हुई वह अपना समय व्यतीत करने लगी ।

ऋषिदत्ता वन के फल-फूल खाकर अपने पिता की झोपडी में रहती हुई अपने दु:ख के दिन व्यतीत करने लगी ।

एक दिन अचानक उसके दिल में विचार आया, `इस शुन्य वन में मैं अपने

शील का रक्षण कैसे कर पाऊंगी ? इस प्रकार विचार कर रही थी तभी उसके दिमाग में एक विचार बिजली भी भांति कोंध आया ।

`अहो ! मेरे पिता ने एक औषधि बतलाई थी । जिसके प्रभाव से मैं अपनें आपको पुरुष के वेष में रुपांतरित कर सकती हूँ । बस, इस प्रकार विचार कर उसने चारों ओर उस औषधि की शोध प्रारंभ की ।

सद्भाग्य से उसे वह औषधि मिल गई । उस औषधि को खाकर वह पुरुष के रुप में बदल गई ।

अब वह ऋषिदत्ता `ऋषिकुमार' के रुप में उस आश्रम में रहने लगी और परमात्मा की पूजा-भक्ति आदि शुभ प्रवृत्तियों में अपना समय बीताने लगी ।

ऋषिदत्ता को कलंकित करने की अपनी जवाबदारी पूर्णकर वह योगिनी काबेरी पहुंच गई और वहां जाकर उसने रुक्मिणी को समाचार दिए, `नर-भक्षिणी के रुप में ऋषिदत्ता को मैंनें कलंकित की है । उसके श्वसुर ने उसे अपमानित कर नगर में से बाहर निकालकर मरवा डाली है । अब मेरा कार्य पूरा हो गया है ।'

योगिनी की इस बात को सुनकर वह रुक्मिणी खुशी से नाच उठी । उसने उस योगिनी को मुंह मांगा धन देकर विदाई दी ।

उस रुक्मिणी ने अपने पिता को कहलाया, `मैं इस जीवन में शादी तो कनकरथ के साथ ही करुंगी-अन्य किसी राजकुमार के साथ नहीं ।'

पुत्री के दिल में कनकरथ के प्रति रहे अनुराग-भाव को देखकर राजा ने एक दूत तैयार किया और उसे अच्छी तरह से समझा-बुझाकर रथमर्दनपुर की ओर रवाना किया ।

थोडे दिनों में वह दूत रथमर्दनपुर पहुँच गया ।

दूत ने जाकर हेमरथ राजा को कहा, `हमारे महाराजा ने आपकी कुशलता चाही हैं और आपको यह अमूल्य भेंट भेजी है ।' उसी समय दूत ने एक कीमती हार राजा को भेंट दिया । तत्पश्चात् राजा ने दूत के आगमन का विशेष प्रयोजन पूछा ।

दूत ने कहा, `हमारे महाराजा ने कहलाया कि रुक्मिणी ने कनकरथ के साथ ही पाणिग्रहण करने का संकल्प किया हैं, वह उन्हीं में अनुरक्त हैं, अतः अपने राजकुमार को परिवार सहित रुक्मिणी के साथ पाणिग्रहण करने के लिए शीघ्र रवाना करे ।'

दूत की इस बात को सुनकर हेमरथ राजा ने अपने पुत्र कनकरथ को बुलाया और कहा, `बेटा कनकरथ ! तूं हताश मत बन ! मन में से निराशा को दूर कर दे । ऋषिदत्ता को तूं भूल जा । काबेरी की राजपुत्री रुक्मिणी तुम्हारे में अनुरक्त

है और वह तुमसे पाणिग्रहण करना चाहती हैं, अतः तुम अपने मित्र-परिवार के साथ काबेरी के लिए प्रयाण करो।'

यद्यपि कनकरथ को पुनः पाणिग्रहण करने की कतई इच्छा नहीं थी। उसके दिल में तो सदैव ऋषिदत्ता की ही छबी अंकित थी...फिर भी वह पिता की आज्ञा को ठुकरा न पाया। इच्छा नहीं होने पर भी उसने एक दिन अपने मित्र-परिवार व सैन्य के साथ काबेरी की ओर प्रयाण प्रारंभ कर दिया।

क्रमशः आगे बढता हुआ कनकरथ एक दिन उसी आश्रम में पहुंचा...जहाँ उसने ऋषिदत्ता को देखा था...और उस भोली भाली निर्दोष ऋषि कन्या के साथ पाणिग्रहण किया था। विशाल जिनमंदिर को देखते ही उसे वे संस्मरण पुनः ताजे हो गए।

कनकरथ राजकुमार ने उसी आश्रम के पास अपना पडाव डाला। उसके बाद पुष्पादि पूजा की सामग्री लेकर उसने जिन मंदिर में प्रवेश किया। मंदिर में प्रवेश करते ही उसका दाहिना नेत्र स्फुरित होने लगा।

उसने सोचा, 'दाहिने नेत्र का स्फुरण तो प्रिया के संगम का सूचक हैं...परन्तु जो प्रिया मौत को भेंट चूकी हैं, उसका संगम अब कैसे हो सकता हैं ? विशुद्ध धर्म की आराधना ही प्रिय व्यक्ति का मिलन कराती हैं और पाप का संचय प्रिय व्यक्ति के वियोग के लिए होता है।'

राजकुमार इस प्रकार विचार सोच रहा था, तभी पुरुष वेष में रही ऋषिदत्ता हाथ में पुष्पादि की सामग्री को लेकर वहां आ गई। कुमार ने जैसे ही ऋषिकुमार को देखा, उसी समय उसे प्रिया के संगम की भांति ही आनंद की अनुभूति होने लगी।

उसी समय ऋषिकुमार ने भी सोचा 'क्या मेरे स्वामी रुक्मिणी के साथ विवाह करने के लिए जा रहे हैं ?'

परमात्मा की पूजा से निवृत्त होने के बाद ऋषिकुमार ने बडे ही आदर-सम्मान के साथ कनकरथ को योग्य आसन पर बिठाया और परस्पर विचार-गोष्ठी की। ऋषिकुमार ने कनकरथ को आदर पूर्वक भोजन कराया।

कनकरथ ने कहा, ``आप कौन हो और यहां आपका आगमन कैसे हुआ ?''

अपनी मूल बात को छिपाते हुए उस ऋषिकुमार ने कहा, ``इस आश्रम में पहले हरिषेण नाम के मुनि थे...मैं उनका पालित पुत्र हूँ। उनके ऋषिदत्ता नाम की पुत्री थी। कुछ वर्षो पूर्व किसी राजकुमार के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ था और वह राजकुमार उस कन्या को लेकर अपने नगर में चला गया था। उस समय हरिषेण मुनि ने अग्नि-प्रवेश कर अपने जीवन का अंत ला दिया था। उस समय मैं यहां पर नहीं था। पृथ्वी तल पर घूमते हुए पांच वर्ष पूर्व मैं यहां आया था, तब से

मै यही पर हूँ । आज आपके दर्शन कर मैं भी कृतार्थ हो गया हूँ ।''

कनकरथ ने सोचा, ``यदि मैं इस कुमार को मेरी सत्य घटना से वाकिफ करुंगा तो ऋषिदत्ता पर आए कलंक व उसे दिए गए मृत्यु-दंड की सजा को सुनकर इसे भी आघात लग सकता हैं ।' इस प्रकार विचार कर ऋषिदत्ता के संदर्भ में कुछ भी बात किए बिना कुमार ने अल्प शब्दों में ही अपना परिचय दिया । बाद में कुमार ने कहा, ``ऋषि ! आपको देखकर मेरी आंखें तृप्त नहीं हो रही है । दिल चाहता हैं कि मैं तुम्हें सदा देखता ही रहूँ ।''

ऋषिकुमार ने कहा, ``जन्म-जन्मांतर के संबंधों के कारण ही वर्तमान जीवन में संबंध जुडते हैं...अतः संभव है पूर्वभव में अपना कोई संबंध रहा हुआ हो ।''

राजकुमार ने कहा, `बात कुछ ऐसी ही लगती हैं, मेरी इच्छा हैं कि तुम मेरे साथ चलो ।'

ऋषिकुमार ने कहा, `ऐसा मत बोलो । संन्यस्त जीवन स्वीकार करने के बाद गृहस्थ के लग्नादि प्रसंगों में संन्यासी को उपस्थित रहना उचित नहीं है ।'

`आपकी बात बिल्कुल ठीक हैं...परन्तु मैं नहीं चाहता हूँ कि आपका वियोग हो । मैं आपका सदैव समागम चाहता हूँ । लग्न प्रसंग में भले ही आप उपस्थित न रहे परन्तु काबेरी तक तो आप मेरे साथ चले...वहां से वापिस लौटने के बाद आप इस आश्रम में रह सकोगे ।'

राजकुमार के अति आग्रह को देखकर ऋषिकुमार ने काबेरी चलने के लिए अपनी सम्मति प्रदान कर दी...और दूसरे ही दिन ऋषिकुमार ने रथारुढ़ होकर राजकुमार के साथ काबेरी की ओर अपना प्रयाण प्रारंभ कर दिया ।

काबेरी के महाराजा सुंदरपाणि को जैसे ही समाचार मिले कि कनकरथ राजकुमार अपने विशाल परिवार के साथ काबेरी के निकट पहुंच चूके हैं, त्योंहि महाराजा ने कनकरथ के स्वागत की तैयारियाँ प्रारंभ करवा दी । राजा की आज्ञा होते ही एक ही दिन में काबेरी नगर को चारों ओर से सजा दिया गया । स्थान-स्थान पर तोरण बांधे गए । ध्वजा व पताकाओं से सारे राज मार्ग सुशोभित किए गए ।

...और एक शुभ दिन मंगल मुहुर्त में कनकरथ राजकुमार ने अपने मित्र आदि परिवार के साथ काबेरी में अत्यंत ही धूमधाम के साथ प्रवेश किया ।

4. कलंक दूर हुआ

कुशल ज्योतिषी ने राजकुमार के लग्न के लिए शुभ मुहुर्त निकाला ।

राजा के आदेश से विशाल लग्नमंडप सजाया गया...तत्पश्चात् अत्यंत ही धूमधाम के साथ कनकरथ राजकुमार व रुक्मिणी के पाणिग्रहण महोत्सव संपन्न हुआ।

रुक्मिणी की मनोकामना पूर्ण हो चूकी थी। उसकी प्रसन्नता का पार नहीं था। एक दिन बात ही बात में रुक्मिणी ने कनकरथ को पूछ लिया, ``हे स्वामिन् ! आपने पहले जिस ऋषिदत्ता के साथ शादी की थी, वह कैसी थी ? मैनें सुना था कि उसने आपका चित्त हर लिया था।''

ऋषिदत्ता का नाम सुनते ही कुमार की आखें अश्रुभिनी हो गई। वह बोला, `प्रिये ! रुप व गुणों में ऋषिदत्ता के समान आज तक एक भी कन्या मैनें नहीं देखी। उसके गुणों का क्या गान करुं ? वह साक्षात् रति मेनका व रंभा की अवतार थी। उसके विरह में मैनें सब कुछ खो दिया है।'

अपनी शोक्या ऋषिदत्ता के प्रति रहे विशेष लगाव को जानकर कुछ नाराजगी बताते हुए रुक्मिणी ने कहा, ``हाँ ! मैं समझ गई कि उसके प्रेम में पागल बनने के कारण ही आप उसके साथ शादी करने के बाद मुझे भूल गए थे। सचमुच, उसने मेरा सुख लूंट लिया था...और इसी कारण मैनें योगिनी द्वारा उसे कलंकित की थी और मेरे सुख के मार्ग में से उस कांटे को दुर किया था।''

कनकरथ ने पूछा, `वह काम तूं ने किसकी मदद से किया ?'

रुक्मिणी ने कहा, `इसी नगर में रहने वाली योगिनी की मदद से ! उसी ने षड्यंत्र रचकर ऋषिदत्ता को बदनाम किया था।' इतना कहकर उसने सारी घटना सुना दी।

ऋषिदत्ता के साथ हुए अन्याय के सारे भेद को जानकर कनकरथ एकदम गुस्से में आ गया। तीव्र भर्त्सना करते हुए उसने कहा, ``अरे दुष्टा ! पापिनी ! तूं ने इस प्रकार की पाप-लीला का आचरण कर अपने आपको नरक के गर्त में डूबा दिया और तूंने मुझे भी खड्डे में उतार दी है। अहो ! वह कितनी रुपवान् व गुणवान् महासती थी ! उसके जीवन का अंत लानेवाली तुझे धिक्कार हो। उसे खत्मकर तूंने अपना कौनसा आत्महित किया हैं ?''

इस प्रकार कहते हुए कुमार ने उस रुक्मिणी को अपने खंड में से बाहर निकाल दी।

प्रातःकाल होने पर उसने चिता में प्रवेश कर आत्मदाह करने की घोषणा कर दी। महाराजा को ज्योंहि इस बात का पता चला, त्योंहि वे दौडते हुए वहां आ गए और किसी भी प्रकार से कुमार को समझाने लगे।

अपनी पुत्री की पाप-लीला को जानकर राजा ने भी अपनी पुत्री की खुब-खुब

भर्त्सना की ।

राजा के समझाने पर भी कुमार अपने संकल्प से पीछे हटने के लिए तैयार नहीं हुआ, तब राजा ने उस ऋषि कुमार को बुलाकर राजकुमार को समझाने के लिए निवेदन किया ।

ऋषिकुमार ने कहा, ``कुमार ! एक प्रियस्त्री के लिए पुरुष को आत्म-दहन करना कहाँ तक उचित हैं ?'...वन में अपने मिलन के समय तुमने मुझे विश्वास दिया था कि हम दोनों साथ में काबेरी चलेंगें और वहां से वापस लौटते समय तुम आश्रम में ठहर जाना ! क्या तुम अपने उस वचन को भूल गए ?

क्या इस प्रकार अग्नि स्नान करके मर जाने से अगने जन्म में उसी प्रिया के साथ संग हो सकेगा ?

इस संसार में सभी प्राणी अपने अपने कर्म के अनुसार जन्म धारण करते है । इस कारण कहाँ जन्म लेना, यह अपने वश की बात नहीं है । अतः हे कुमार ! प्रिया के संग की इच्छा से आप मरने का आग्रह छोड दे और एक दूसरी महत्त्व की बात है-`मरे हुए को प्रिय का संगम दुर्लभ हैं, परन्तु जो जीवित है उसे तो कभी भी प्रिय का मिलन हो सकता है ।''

राजकुमार ने कहा, `तुम्हारी सब बातें ठीक हैं, परन्तु क्या मरे हुए का कभी पुनः मिलन हो सकता हैं ?'

ऋषिकुमार ने कहा, `मरा हुआ व्यक्ति वापस नही लौटता हैं...परन्तु क्या तुमने अपनी प्रिया को मृत अवस्था में देखी थी ?'

कनकरथ ने कहा, ``नहीं ! मैनें स्वयं तो उसे मृत हालत में नहीं देखी हैं, परन्तु दंडपाशिकों ने आकर कहा था कि उसे मार दी गई है ।''

ऋषिकुमार ने कहा, `मुझे तो अपने ज्ञान में तुम्हारी पत्नी जीवित नजर आ रही है । वह दक्षिण दिशा में है ।'

ऋषिकुमार की इस बात को सुनते ही कनकरथ एकदम चोंक उठा और अत्यंत ही आश्चर्य के साथ बोला, ``क्या ऋषिदत्ता जीवित है ?''

ऋषिकुमार ने कहा, ``हाँ ! जीवित है ।''

``क्या उसका मुझे पुनर्मिलन हो सकेगा ?''

``हो सकता है ।''

``कैसे ?''

``मैं अपनी मंत्र शक्ति के द्वारा उसके पास जाकर उसे तुम्हारे सामने प्रगट कर सकूंगा ?'' ऋषिकुमार ने कहा ।

``तब तो मैं जींदगी भर तुम्हारा उपकार नहीं भूल पाऊंगा ।''

``अच्छा ! तो मेरी मंत्र-साधना के लिए, तुम धूप-दीप आदि सामग्री मंगवा दो ।'' ऋषिकुमार ने कहा ।

तभी राजकुमार की आज्ञा से पास में ही बडा पर्दा करा दिया गया और धूप-दीप आदि मंत्र साधना में उपयोगी सभी चीजें भी मंगा दी गई ।

ऋषिकुमार ने पर्दे में प्रवेश किया और दिखावें के लिए अपनी मंत्र-साधना प्रारंभ की । कुछ ही देर बार ऋषिकुमार ने रुप परावर्तन की औषधि का भक्षण किया और वापस वह अपने मूल स्वरुप में आ गई । कुछ ही क्षणों बाद पर्दा हटा दिया गया ।

कनकरथ ने साक्षात् ऋषिदत्ता को देखी...और उसके आश्चर्य का पार न रहा । राजकुमार के परिवारजनों ने तथा राजा ने भी उस ऋषिदत्ता के अद्‌भुत रुप व लावण्य को देखा और सभी खुश हो गए ।

सोने के सामने पित्तल की जो दशा होती हैं, वो ही दशा ऋषिदत्ता के आगे रुक्मिणी की थी ।

लंबें समय के वियोग के बाद ऋषिदत्ता को प्राप्त कर कनकरथ की खुशी का पार न रहा ।

राजा को ज्योंहि इस बात का पता चला कि इस पवित्र ऋषिदत्ता को कलंकित करने के लिए उस योगिनी ने सारा प्रयोग किया थां, यह जानकर राजा ने उस सुलसा योगिनी को नगर-त्याग की भयंकर सजा कर दी । लोगों ने उस योगिनी की भर्त्सना की और उसका तिरस्कार किया...तत्पश्चात् उसे नगर में से बाहर निकाल दी गई ।

इधर राजा ने कनकरथ व ऋषिदत्ता को हाथी के ऊपर बिठाकर पुनः नगर प्रवेश कराया ।

राजा ने अपनी पुत्री को भी ठपका दिया । कनकरथ राजकुमार अपनी पत्नी ऋषिदत्ता के साथ आनंद पूर्वक दिन व्यतीत करने लगा ।

एक दिन उसने अपनी पत्नी को पूछा, ``तेरे मिलन से मुझे अपार खुशी हुई हैं...परन्तु मेरा मित्र ऋषिकुमार मुझे कहीं भी नजर नहीं आ रहा है । उसका वियोग मुझे अत्यंत सता रहा है । पता नहीं तुम्हें प्रगट कर वह कहां अदृश्य हो गया ? सचमुच उत्तम पुरुषों का अस्तित्व एक मात्र परोपकार के लिए ही होता है ।

नदी परोपकार के लिए ही बहती है । परोपकार के लिए ही वृक्ष फलते हैं, उसी प्रकार जगत् में उत्तम पुरुषों का अस्तित्व भी एक मात्र परोपकार के लिए ही होता है ।

ऋषिकुमार के वियोग में अपने पति को दुःखी देखकर हंसकर उस ऋषिदत्ता ने कहा, `स्वामिन् ! इस ऋषिकुमार का वियोग कहां हैं ? वह ऋषिकुमार तो मैं स्वयं ही थी ! मैं स्वयं ही औषधि के प्रभाव से ऋषिकुमार में रुपांतरित हुई थी ।'

ऋषिदत्ता की इस बात को सुनकर कनकरथ के आश्चर्य का पार न रहा । अपनी पत्नी के साथ पूर्व में किए मित्रवत् व्यवहार के बदले उसे हंसी आ गई ।

कनकरथ ने पूछा, `दंडपाशिक तो तुझे मारने के लिए जंगल में ले गए थे फिर तुम बची कैसे ?

ऋषिदत्ता ने कहा, `पुण्य ही बलवान् है । उस समय जैसे ही मैं मूर्च्छित होकर ढल पडी, वे दंडपाशिक मुझे मृत समझकर ऐसे ही छोडकर चले गए होंगें । जब मैं होश में आई तब मैंनें न तो दंडपाशिकों को देखा और न ही किसी अन्य पुरुष को । वहां से मैं चलती हुई अपने पिता के आश्रम में चली गई । एकाकी वन में स्त्री रुप में रहने में मुझे शील के संरक्षण का भय सताने लगा, तभी पिता के द्वारा दी गई औषधि मुझे याद आ गई और मैंनें अपने आत्म-रक्षण के लिए अपना रुप बदल दिया । कुछ समय बाद आपका उस धरती पर आगमन हुआ । उसके बाद बनी घटनाओं से तो आप पूर्णतया परिचित ही हो ।'

ऋषिदत्ता अब कलंक मुक्त हो चूकी थी । योगिनी के पाप का भंडा फुट चूका था । एक दिन खुश हुए कनकरथ ने ऋषिदत्ता को वरदान देते हुए कहा, `तेरे को जो चाहिये, तू मांग ले ।'

अपने पति के इस वरदान को सुनकर महासती ऋषिदत्ता ने कहा, `स्वामिन् ! यदि आप मुझे वरदान देना चाहते है तो मेरी एक ही इच्छा हैं कि...।'

बोल ! बोल ! रुक क्यों गई ?

`स्वामिन् ! मेरी एक ही इच्छा हैं कि आप मुझ में और रुक्मिणी में किसी प्रकार का भेद न देखें । उसे भी मेरे तुल्य माने ।'

ऋषिदत्ता के इन वचनों को सुनकर कनकरथ तो स्तब्ध हो गया ।

`अहो ! यह ऋषिदत्ता मानुषी नहीं...कोई दैवी लगती है । अहो ! यह कितनी महान् हैं ? अपने साथ सज्जनता का व्यवहार करनेवाले के प्रति तो सभी सज्जनता का व्यवहार करते हैं...परन्तु अपना अहित चाहने व करनेवाले के प्रति भी इसकी कितनी उदारता हैं ?

सामान्यतया स्त्रियाँ स्वभाव से वक्र होती हैं...परन्तु यह तो कल्पलता के समान सर्व हितकारिणी है । इसकी महानता को धन्य है ।'

कनकरथ ने कहा, `प्रिये ! तेरे वचन को मैं स्वीकार करता हूँ...परन्तु तुझ

में और उसमें कितना बडा अंतर हैं ?

आखिर ऋषिदत्ता की इच्छा को मान देकर कनकरथ ने रुक्मिणी का हार्दिक स्वीकार किया । रुक्मिणी को अपनी भूल का तीव्र पश्चात्ताप हुआ...और भविष्य में कभी भी ऐसी भूल नहीं करने का संकल्प किया ।

कुछ दिनों तक काबेरी में स्थिरता कर एक शुभ दिन कनकरथ ने अपनी दोनों पत्नियों के साथ अपने नगर की ओर प्रयाण प्रारंभ कर दिया ।

5. संयम स्वीकार

इधर हेमरथ महाराजा को ऋषिदत्ता की निर्दोषता का जैसे ही ख्याल आया उसे अपनी भूल का तीव्र पश्चात्ताप हुआ । राजा ने कनकरथ राजकुमार को दोनों पत्नियों के साथ भव्य महोत्सव पूर्वक नगर प्रवेश कराया ।

नगरवासियों को भी जब ऋषिदत्ता की निर्दोषता का पता चला तो वे भी ऋषिदत्ता के प्रति विशेष आदर-बहुमान वाले हुए । नगर में चारो ओर ऋषिदत्ता की उज्ज्वल कीर्ति फैलने लगी ।

हेमरथ राजा ने अपनी भूल के बदले ऋषिदत्ता से क्षमा मांगी ।

ऋषिदत्ता ने कहा, 'पिताजी ! दोष आपका नहीं हैं, यह तो सब मेरे ही पाप कर्म का फल है ।'

इसी बीच नगर के बाह्य उद्यान में परम ज्ञानी भद्रंकरसूरिजी आचार्य भगवंत का आगमन हुआ । उनकी वैराग्यसभर धर्म देशना को सुनकर राजा ने दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प किया ।

एक शुभ दिन हेमरथ राजा ने कनकरथ राजकुमार का राज्याभिषेक कराया और स्वयं ने आचार्य भगवंत के चरणों में दीक्षा अंगीकार कर ली ।

संयम धर्म के स्वीकार के कारण हेमरथ मुनि रत्नत्रयी की आराधना-साधना में लीन बन गए । कुछ ही वर्षों में परिषह व उपसर्गों को समता पूर्वक सहन करते हुए...त्याग-तप और तितिक्षा की साधना द्वारा समस्त घाति-अघाति कर्मो का क्षय-कर शाश्वत अजरामर पद के भोक्ता बन गए ।

कनकरथ न्याय व नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा । एक दिन ऋषिदत्ता ने रात्रि में सिंह का स्वप्न देखा । उसने अपने पति को बात की ।

कनकरथ ने कहा, 'प्रिये ! तूं सिंह के समान अत्यंत पराक्रमी पुत्र को जन्म देगी ।'

क्रमशः गर्भकाल व्यतीत होने पर ऋषिदत्ता ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न

को जन्म दिया ।

राजा ने पुत्र जन्म का भव्य महोत्सव मनाया । धीरें धीरें समय बीतने लगा ।

एक दिन राजा व रानी झरोखे में बैठकर नगर का दृश्य निहार रहे थे...तभी अचानक उन्होंनें बादलों से छाए हुए आकाश-मंडल को देखा । परन्तु दूसरी ही क्षण हवा का एक तीव्र झोंका आया और वे सारे बादल बिखर गए । इस दृश्य को देख कनकरथ राजा ने सोचा, `बादलों के आगमन और बिखराव की भांति ही इस संसार में भौतिक पदार्थो का संयोग और वियोग है । पुण्य कर्म के योग से जीवात्मा को सानुकूल पदार्थो का संयोग होता हैं और उस पुण्य के क्षीण होने के साथ ही उन पदार्थों का वियोग हो जाता है । यह समस्त संसार पदार्थों के संयोग और वियोग पर आधारित है ।

इस संसार में जीवात्मा का आयुष्य पवन की भांति अत्यंत ही चपल है । किस समय आयुष्य पूरा हो जाएगा कुछ कह नहीं सकते ।

इस प्रकार कनकरथ राजा अनित्य भावना में चढ गया । उसे यह सारा संसार क्षण भंगुर प्रतीत होने लगा ।

राजा ने वैराग्यपूर्ण वार्तालाप में ही रात्रि व्यतीत की ।

दूसरे दिन राजा प्रातःकृत्य से निवृत्त होकर राज सभा में जा रहा था तभी उद्यानपाल ने आकर समाचार दिए, ``हे राजन् ! समता की साक्षात् मूर्ति समान भद्रयशसूरिजी म. अपने विशाले परिवार के साथ नगर के बाह्य उद्यान में पधारे है ।''

आचार्य भगवंत के आगमन को सुनकर राजा एकदम खुश हो गया । उसने उद्यानपाल को कींमती वस्तु उपहार में दी ।

तत्पश्चात् वह राजा अपने विशाल परिवार के साथ अत्यंत ही धूमधाम के साथ उद्यान में जा पहुँचा । उसने आचार्य भगवंत को भावपूर्वक वंदना की, तत्पश्चात् वह राजा धर्मदेशना के श्रवण के लिए योग्य आसन पर बैठ गया ।

आचार्य भगवंत ने भवनिर्वेदिनी देशना दी । देशना के अंत में ऋषिदत्ता ने हाथ जोडकर पूछा, `भगवन् ! गत जन्म में मैंने ऐसा कौनसा पाप किया था, जिस पाप के उदय के कारण मुझे इस जन्म में कलंकित होना पडा ?'

ऋषिदत्ता के इस प्रश्न को सुनकर उसके समाधान के लिए आचार्य भगवंत ने उसके पूर्वभव को बतलाते हुए कहा ।

इसी भारत देश में गंगापुर नाम का नगर था । उस नगर में गंगदत्त राजा था, उसकी मुख्य रानी का नाम गंगा था । उनके गंगसेना नाम की पुत्री थी । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के बाद एक बार गंगसेना ने उसी नगर में रही चंद्रयशा

साध्वी के पास धर्मोपदेश सुना और वैराग्यवासित बनी गंगसेना ने संसार के बंधनों का त्याग कर चारित्र-धर्म स्वीकार कर लिया ।

चंद्रयशा साध्वी के समुदाय में एक निःसंगा नाम की साध्वी कठोर तप करती थी । उसके इस कठोर तप की चारों ओर प्रशंसा होने लगी । इस प्रशंसा को गंगसेना साध्वी सहन नहीं कर सकी और ईर्ष्या के आवेग में आकर उसने निःसंगा साध्वी के ऊपर आक्षेप लगा दिया कि यह साध्वी दंभी है, दिन में तो तप करती है और रात्रि में राक्षसी की तरह मुर्दे का मांस खाती है ।

बस, इस प्रकार एक निर्दोष साध्वी के ऊपर कलंक लगाने के कारण गंगसेना साध्वी ने भयंकर पापकर्म उपार्जित किया । उस दुष्कर्म की आलोचना नहीं करने के कारण वह गंगसेना साध्वी अनेक भवों तक इस संसार में भटकी । अनेक भवों में परिभ्रमण करने के बाद वह गंगसेना गंगापुर नगर में राजपुत्री के रुप में उत्पन्न हुई । वहा मुनिसुव्रत स्वामी की पूजा अर्चना करने लगी और कठोर तप करने लगी, परन्तु उसका जीवन मायावी था । कपट के पाप की आलोचना नहीं करने के कारण वह मरकर ईशान इन्द्र की इन्द्राणी बनी...वहां अपना आयुष्य पूर्ण कर हरिषेण राजा की प्रीतिमति रानी की कुक्षी से ऋषिदत्ता के रुप में उत्पन्न हुई ।

पूर्व भव में निर्दोष साध्वी पर दिए गए कलंक के पाप के कारण ही ऋषिदत्ता इस भव में कलंकित बनी ।

गुरु भगवंत के मुख से अपने पूर्व भव के चरित्र को सुनने के साथ ही ऋषिदत्ता को जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । उस ज्ञान द्वारा उसने अपने पूर्व भव की स्थिति को प्रत्यक्ष देखा ।

ऋषिदत्ता के पूर्व भव के चरित्र को सुनकर राजा व रानी दोनों को इस असार संसार के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया । उन्होंने संयम प्रदान करने के लिए गुरु भगवंत को विनंति की ।

गुरु भगवंत ने कहा, ``शुभ कार्य में देरी नहीं करनी चाहिये ।''

बस, नगर में आकर कनकरथ राजा ने अपने सिंहरथ पुत्र को राजगद्दी सौंप दी । जिनमंदिर में परमात्म-भक्ति का महोत्सव कराया और एक शुभ दिन संसार के मोह के बंधनों को तोडकर कनकरथ व ऋषिदत्ता ने भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली ।

चारित्र धर्म का स्वीकार करने के बाद रत्नत्रयी की निर्मल आराधना व साधना के फल स्वरुप समस्त घाति-अघाति कर्मों का क्षयकर महासती ऋषिदत्ता ने शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

6 महासती अंजना

इन्द्र की अलकापुरी के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने वाले महेन्द्रपुर के राजमहल में महेन्द्र राजा अपने बैठकखण्ड में चिन्तातुर अवस्था में बैठे हुए थे । महेन्द्र राजा की छत्रछाया में प्रजा आनन्द-कल्लोल कर रही थी । प्रजा चिन्तामुक्त थी, किन्तु प्रजापति चिन्तामग्न थे ।

अचानक ही महामंत्रीश्वर ने महाराजा के बैठक खण्ड में प्रवेश किया । विषादग्रस्त महाराजा को देखकर मंत्रीश्वर ने सोचा-'आज महाराजा किसी गम्भीर समस्या के चिंतन में डूबे लगते है ।'

मंत्रीश्वर ने महाराजा को प्रणाम किया । महाराजा अपने विचारों में खोये हुए थे, किन्तु मंत्रीश्वर के आगमन ने महाराजा की विचारधारा को खण्डित कर दी ।

मंत्रीश्वर ने कहा-``स्वामिन् ! आपकी असीम कृपादृष्टि से प्रजाजन आनन्द-कल्लोल कर रहे हैं । समस्त प्रजा सुख के सागर में लीन है...परन्तु ऐसे खुशहाली के प्रसंग पर आपके चेहरे पर उदासीनता क्यों ? क्या आपका स्वास्थ्य बराबर नहीं है ?''

महाराजा ने कहा-``तुम्हारे जैसे सुयोग्य मंत्रियों के होते हुए मुझे और तो किस बात की चिन्ता हो सकती है । प्रजाजनों की खुशहाली से मैं भी खुश हूँ, किन्तु जब से महारानी हृदयसुन्दरी ने पुत्री के वर के शोध की बात कही है, तब से मेरी चिन्ता बढ़ गई है । बेटी अंजना रुपबती है, गुणवती है, कुलवती है, अनेक विद्याओं में पारंगत है, वह तत्त्वद्रष्टा है ।

``मंत्रीश्वर ! मुझे अंजना के सुयोग्य वर की चिन्ता है, मैंने राजकुमारों की शोध की हैं, किन्तु कोई रुपवान् है तो गुणवान् नहीं है, कोई गुणवान् है तो कुलवान् नहीं है, कोई कुलवान् है तो गुणवान् नहीं है ।''

महाराजा की बात सुनकर मंत्रीश्वर भी विचार में पड़ गये । वे अंजना को अच्छी तरह से पहिचानते थे, अंजना के प्रभावक व्यक्तित्व से वे अच्छी तरह से परिचित थे, उनकी भी इच्छा थी कि अंजना के लिए सुयोग्य वर की शोध होनी ही चाहिए .

मंत्रीश्वर ने सोच-विचार कर महाराजा को अपना प्रस्ताव दिया कि दूर-सुदूर के राजकुमारों के चित्र मंगाये जायें । नीतिशास्त्र में भी कहा है-**'आकृतिर्गुणान् कथयति'** मनुष्य की मुखाकृति, उसकी आँख व नासिका, उसके व्यक्तित्व का वास्तविक दर्पण है ।

सुज्ञपुरुष किसी के मुखमण्डल को देखकर ही उसके व्यक्तित्व का कथन कर सकते है ।

मंत्रीश्वर की बात महाराजा को जँच गई और उन्होंने तत्काल चारों ओर दूत के साथ चित्रकार भिजवाए ।

कुछ ही दिनों में राजकुमारों के चित्र आने लगे । महाराजा चित्र में रहे चेहरे को देखकर राजकुमार के व्यक्तित्व का अन्दाज करने लगे, किन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक चेहरा नजर नहीं आ रहा था ।

अचानक संध्या समय एक दूत आया, उसने आते ही एक सुन्दर छवि महाराजा के हाथ में थाम दी । महाराजा ने चित्र पर से पर्दा हटाया । चित्र क्या था- साक्षात् बोलती तस्वीर थी । महाराजा देखते ही रह गये...``क्या यह इस धरती का पुरुष है या साक्षात् देव ? इतनी सुन्दर...भव्य आकृति !''

महाराजा ने हृदय सुन्दरी को वह चित्र बताया । चित्र देखते ही महारानी का मन-मयूर नाच उठा ।

थोड़ी ही देर बाद एक दूसरा मंत्री दूसरा चित्र लेकर उपस्थित हुआ, मंत्री ने वह चित्र महाराजा को सौंप दिया । चित्र को देख महाराजा विचार में पड़ गये । वह चित्र भी अतीव सुन्दर था । महाराजा निर्णय न कर पाये कि पहला चित्र अधिक सुन्दर है या दूसरा ?

दोनों चित्रों ने महाराजा के मन को मोह लिया था । हृदयसुन्दरी भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गयी थी, वह भी निर्णय न कर सकी ।

महाराजा ने पहला चित्र लाने वाले दूत को बुलाया और पूछा-``यह किसका चित्र है ?''

दूत ने कहा-``यह चित्र विद्याधर राजा हिरण्याभ के पुत्र विद्युत्प्रभ का है । राजकुमार की माता का नाम `सुमना' है । राजकुमार अत्यन्त ही रुपवान्, कुलवान्, बलवान् और गुणवान् है ।''

दूत की बात सुनकर महाराजा अत्यन्त ही प्रसन्न हुए ।

फिर महाराजा ने दूसरे मंत्री को पूछा-``मंत्री ! तुम जो यह चित्र लाये हो, वह चित्र किसका है ? उनका परिचय ?''

मंत्री ने कहा-``स्वामिन् ! यह चित्र आदित्यपुर के विद्याधर महाराजा प्रह्लाद के पुत्र पवनंजय का है । उनकी माता का नाम केतुमती है । पवनंजय अत्यन्त ही पराक्रमी कार्यकुशल, सुन्दर और अत्यन्त तेजस्वी हैं ।

विद्युत्प्रभ और पवनंजय दोनों में से पसन्दगी करना कठिन हो गया ।

हिरण्याभ और प्रह्लाद दोनों राजाओं के साथ महाराजा महेन्द्र के बहुत ही अच्छे सम्बन्ध थे ।

इसी बीच वह दूत बोला-``विद्युत्प्रभ की अपनी एक विशेषता भी है । वे इसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं, वे चरमशरीरी हैं ।''

महाराजा आश्चर्यचकित होकर बोले-``ओहो ! वे चरमशरीरी हैं । तो बताओ, क्या तुमने उनके आयुष्य के बारे में कुछ जाना या सुना है ?''

उसने कहा-``हाँ जी ! मैंने निमित्तज्ञ द्वारा उनके आयुष्य के बारे में भी जानकारी प्राप्त की है । वे १८ वर्ष की उम्र में निर्वाण पाने वाले हैं ।''

महाराजा बोले-``ओहो ! मात्र १८ वर्ष की लघुवय में ।''

फिर महाराजा ने पवनंजय का चित्र लाने वाले मंत्री को पूछा-``क्या ? तुम पवनंजय के आयुष्य के बारे में जानते हो ?''

मंत्री ने कहा-``हाँ जी ! निमित्तज्ञों ने मुझे बताया है कि वे दीर्घायुषी है ।''

दोनों की बातों को सुनकर मंत्रीश्वर की ओर ईशारा कर महाराजा बोले-``मंत्रीश्वर ! अब क्या निर्णय लेना है ?''

मंत्रीश्वर ने कहा, ``राजन् ! कन्या के इस लोक और परलोक के हित के लिए पति का गुणवान्, कुलवान्, बलवान्, ऐश्वर्यवान् तथा दीर्घायुषी होना जरुरी है । विद्युत्प्रभ गुणवान, कुलवान होते हुए भी अल्पायुषी है और पवनंजय गुणवान होने के साथ-साथ दीर्घायुषी भी है । अतः मेरी दृष्टि से तो अंजना के लिए पवनंजय ही एक सुयोग्य वर है ।''

महाराजा और महारानी ने महामंत्री के सुझाव का हृदय से स्वागत किया और तत्काल निर्णय ले लिया ।

★ अंजना के वर की पसंदगी हो जाने के कारण महाराजा अब निश्चिन्त हो चुके थे और अत्यन्त प्रसन्नमुद्रा में बैठे हुए थे । इसी बीच पडौसी विद्याधर राजाओं की ओर से आमंत्रण आया-``आज सभी विद्याधर राजा सपरिवार नन्दीश्वर द्वीप की यात्रा के लिए पधार रहे हैं, अतः तीर्थयात्रा के पावन प्रसंग में सम्मिलित होने के लिए आप भी सपरिवार पधारें ।''

महाराजा महेन्द्र ने निमंत्रण स्वीकार किया और उन्होंने हृदयसुन्दरी, अंजना तथा सभी परिवारजनों को यात्रा हेतु प्रयाण की तैयारी के लिए आज्ञा कर दी ।

थोड़ी ही देर में अपने परिवार के साथ महाराजा महेन्द्र विमान में आरुढ़ हो गये और नन्दीश्वर द्वीप की ओर आगे बढ़ने लगे । आकाशमार्ग से वह विमान

गुजर रहा था। बीच में अनेक द्वीप और समुद्र आये।

अंजनाकुमारी द्वीप और समुद्रों के प्राकृतिक दृश्यों को निहार रही थी...विमान अत्यन्त तेजी से आगे बढ़ रहा था। विमान कुछ ही समय बाद नन्दीश्वर द्वीप पर पहुँच गया।

आज किसी महोत्सव का प्रसंग होने से चारों ओर से अनेक विद्याधर महाराजा शाश्वत तीर्थ की यात्रा हेतु आ रहे थे, देखते ही देखते वहां हजारों नर-नारी इकट्ठे हो गये।

महाराजा महेन्द्र ने अपनी महारानी हृदयसुन्दरी और पुत्री अंजना के साथ परमात्मा की भावपूर्वक द्रव्य-पूजा की। अनेक महाराजा प्रभु-भक्ति में तल्लीन बने हुए थे।

द्रव्यपूजा की समाप्ति के बाद भावपूजा प्रारम्भ हुई।

अंजना प्रभु के गुणगान में तल्लीन बन गई। वह मधुर कण्ठ से परमात्मा की स्तवना कर रही थी। सुरीले कण्ठ की उस स्तवना के श्रवण में सभी लोग मस्त बन चुके थे। इस प्रकार अत्यन्त ही भावपूर्वक अंजना ने परमात्मा की भावपूजा की।

परमात्मा की पूजा-समाप्ति के बाद महाराजा महेन्द्र आदि मन्दिर में से बाहर निकले और नंदीश्वर द्वीप के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने लगे। अचानक महेन्द्र राजा की दृष्टि प्रह्लाद राजा पर पड़ी। वे बोले-``ओहो ! आप कुशल हो न ! आपका आगमन कैसे हुआ ?''

प्रह्लाद ने कहा-``परमात्मा देवाधिदेव की असीमकृपा से आनन्द है। शाश्वत चैत्यों की यात्रा के लिए ही यहाँ आगमन हुआ है।''

थोड़ी सी औपचारिक बातचीत के बाद महाराजा प्रह्लाद ने कहा-``मैं तुमसे एक चीज माँगना चाहता हूँ।''

महेन्द्र ने कहा-``जरुर मांगो।''

प्रह्लाद ने कहा-``अपने पुत्र पवनंजय के लिए आपकी पुत्री अंजना की मांग करता हूँ। मैं आपकी पुत्री को अपनी कुलवधु बनाना चाहता हूँ।''

प्रह्लाद के मुख से इस प्रकार की बात सुनकर महेन्द्र के हर्ष का पार न रहा। महेन्द्र राजा की तो यही तीव्र इच्छा थी, अतः तत्काल पवनंजय और अंजना के सम्बन्ध का निर्णय ले लिया गया।

अंजना के सम्बन्ध का निर्णय हो जाने के बाद महाराजा महेन्द्र ने सोचा-``अच्छा हो, सम्बन्ध-निर्णय के साथ पुत्री का विवाह भी हो जाय, अतः उसने तत्काल ज्योतिषी को बुलवाया और लग्न का शुभमुहूर्त निकालने की आज्ञा कर दी।

ग्रह-नक्षत्र आदि देख कर ज्योतिषी बोला-``पवनंजय और अंजना के विवाह के लिए आज से तीसरा दिन सर्वश्रेष्ठ दिन है ।''

महेन्द्र राजा ने प्रह्लाद राजा से बात की । प्रह्लाद राजा ने महेन्द्र के प्रस्ताव का स्वागत किया । दोनों परिवार नंदीश्वर द्वीप से मानसरोवर के किनारे आ गये । वहीं पर एक नगरी की रचना कर दी गई ।

सखियों द्वारा अंजना को पता चल गया कि पवनंजय के साथ उसका सम्बन्ध हो चुका है और अब वहाँ विवाह की तैयारियाँ चल रही हैं ।

पवनंजय को भी पता चला कि अंजना के साथ उसका विवाह होने वाला है ।

अंजना ने पवनंजय के रुप-सौन्दर्य आदि के बारे में लहुत कुछ सुना था, अतः अंजना पवनंजय जैसे महान् पति को पाने के लिए अत्यन्त उत्सुक बन चुकी थी ।

कई बार व्यक्ति सोचता कुछ और है और होता कुछ और है । अंजना भावि पतिसुख की कल्पना में खोई हुई थी, परन्तु उसे कहाँ पता था कि वह जो कुछ सोच रही है, वह भवितव्यता को मंजूर नहीं है ।

अंजना की कल्पना है ``आज से तीसरे दिन मुझे पवनंजय जैसे सुयोग्य वर की प्राप्ति होगी और मेरा जीवन धन्य बन जाएगा ।'' उसे पता नहीं था कि विवाह की वह मंगल घड़ी उसके भावी दुःख का विराट् वृक्ष बन जाएगी ।

2. पवनंजय की अधीरता

पवनंजय ने अंजनाकुमारी के रुप-सौन्दर्य आदि के बारे में बहुत कुछ सुना था, किन्तु अभी तक उसने अंजना का चेहरा देखा नहीं था । पवनंजय ने अपने मित्र प्रहसित को पूछा-``क्या तूने अंजना को देखा है ? वह कैसी है ?''

प्रहसित ने कहा-``हाँ । एक बार मैंने अपनी आँखों से अंजना के चेहरे को देखा है । ओहो ! उसके रुप-सौन्दर्य का क्या वर्णन करूँ ? उसे देखने पर प्रश्न खड़ा होता है वह देवसुन्दरी देवी है या मानुषी ? उसके रुप का वर्णन करना मेरे लिए अशक्य है ।''

प्रहसित के मुख से इस प्रकार की बात सुनकर पवनंजय अंजना के रुपदर्शन के लिए लालायित हो उठा । वह बोला-``इसी घड़ी मुझे अंजना को देखना है ।''

प्रहसित ने कहा-``मित्र ! अधीर मत बनो । आज से तीसरे दिन अंजना तुम्हारी प्रिया बननेवाली है, तो फिर तुम इतने अधीर क्यों बन रहे हो ?''

पवनंजय ने कहा-``मित्र ! तुम्हारी सब बातें ठीक है, किन्तु एक बार तो मुझे अंजना को देखना ही होगा । उसके बिना मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ।''

पवनंजय अंजना के रुपदर्शन का पिपासु बन गया ।

जो व्यक्ति गुणग्राही न होकर केवल रुप के पिपासु होते हैं, वे पतंगे की भाँति अपने जीवन को बर्बाद कर देते हैं । रुप और गुण का कोई अविनाभावी संबंध नहीं है । जहाँ रुप हो वहाँ गुण हो भी सकते हैं और नही भी हो सकते हैं । नमक में सफेदी है, किन्तु खारापन है, इलायची-कस्तूरी श्याम है, किन्तु उनमें गुण है-सुगन्ध है ।

पवनंजय मात्र रुप का पिपासु बना था । वह अंजना के रुपदर्शन के लिए अत्यन्त अधीर बन चुका था ।

पवनंजय की असीमत उत्सुकता को देख, प्रहसित ने कहा, ``आज रात को गुप्त रुप से हम अंजना के महल में चलेंगें ।''

संध्या का समय हुआ और पवनंजय व प्रहसित दोनों गुप्त रुप से विमान में बैठकर मानसरोवर के किनारे आ गये ।

सात मंजिल के ऊपरी खण्ड में अंजनाकुमारी अपनी सखियों के साथ वार्ता-विनोद कर रही थी ।

दोनों मित्र ऊपर, खण्ड के गुप्त भाग में पहुँच गये । खिड़की का एक द्वार खुला था, गुप्त रुप से पवनंजय अंजना के रुप को देखने लगा ।

अंजना के दिव्य, अद्भुत और तेजस्वी रुप के दर्शन कर पवनंजय के आश्चर्य का पार न रहा । `अहो ! यह तो साक्षात् कामदेव की पत्नी रति से भी अधिक सुन्दर लग रही है । मैं पुण्यशाली हूँ कि ऐसी रुपवती कन्या के साथ मेरा पाणिग्रहण होगा ।'

अंजना की सखियाँ परस्पर वार्तालाप कर रही थीं । पवनंजय उस वार्तालाप को सुनने लगा ।

एक सखी ने कहा-``अंजना ! तू वास्तव में भाग्यशालिनी है कि तुझे पवनंजय जैसा सुयोग्य वर मिला ।''

दूसरी सखी-, ``अरे सखी, तूं यह क्या बोलती है । चरम शरीरी विद्युत्प्रभ को छोड़कर दूसरा पुरुष प्रशंसनीय कैसे हो सकता है ?''

फिर वसंततिलका बोली-``तू तो बिल्कुल बे-अक्कल है, विद्युत्प्रभ तो अल्प आयुष्य वाला है, अपनी सखी के लिए अल्प आयुष्य वाला पति प्रशंसनीय कैसे हो सकता है ?''

यह सुनकर एक सखी बोली-``अरे ! तूं भी भूल गई, अमृत की तो दो बूंद भी अच्छी होती है और जहर का कटोरा भर दिया जाय तो भी किस काम का ?''

इस प्रकार के वार्ता-विनोद में स्वयं अंजना मौन बैठी हुई थी-परस्पर सखियाँ ही वार्तालाप कर रही थीं ।

इस वार्तालाप को सुनकर पवनंजय ने सोचा-`अहो ! ये सखियाँ मेरी तुलना जहर के साथ कर रही हैं और फिर भी अंजना मौन है । जरुर अंजना के हृदय में विद्युत्प्रभ का वास होना चाहिए, अन्यथा वह मौन क्यों रहती ?'

पवनंजय आगबबूला हो उठा । तत्काल वह अंजना व उसकी सखियों की हत्या के लिए तैयार हो गया ।

तभी प्रहसित ने उसे रोक लिया और कहा-, ``मित्र ! यह क्या करने के लिए तैयार हुए हो ? अपराधिनी स्त्री भी अवध्या है तो फिर निर्दोष अंजना की हत्या का प्रयास... ?''

संसार के समस्त पदार्थ परिवर्तनशील हैं । वस्तु की पर्यायें (अवस्थाएँ) प्रतिक्षण बदलती जा रही हैं । किसी वस्तु विशेष पर अभी राग होता है, तो कुछ समय बाद उसी वस्तु पर द्वेष भी हो जाता है ।

पवनंजय आया था अंजना के रुप का अमीपान करने के लिए...और कुछ ही क्षणों में भयंकर रोष से उसकी आत्मा भड़क उठी ।

उसके हृदय में अंजना के प्रति द्वेष की भावना पैदा हो गई ।

जिसके रुपदर्शन के लिए वह इतना अधिक अधीर बना था । जिसके दर्शन के लिए उसने नीति-मर्यादा का भी भंग कर दिया था...वही पवनंजय अब क्रोधान्ध बन गया ।

प्रहसित ने पवनंजय को बहुत समझाया । वह उसे उसी समय वहाँ से विमान द्वारा अपने महल में ले आया ।

पवनंजय ने कहा-, ``मित्र प्रहसित ! अब मुझे अंजना से विवाह नहीं करना है । मेरा मन अत्यन्त व्याकुल बन गया है ।''

प्रहसित ने समझाया-, ``मित्र ! इस प्रकार की बात मत करो । रात्रि की घटना का कुछ गम्भीरता से विचार करो । अंजना कुमारी बिल्कुल निर्दोष है, सखियों के वार्ता-विनोद में उसका मौन रहना ही उचित है । मित्र ! अपने महाराजा की इज्जत का सवाल है, तुम्हारे पिता ने अंजना की मांग की है और तुम इस प्रकार विवाह के लिए इन्कार कर दोगे तो तुम्हारे पिता को कितना गहरा दु:ख होगा ?''

प्रहसित के बहुत समझाने पर पवनंजय ने विवाह के लिए अपनी सम्मति प्रदान कर दी ।

तीसरे दिन मंगल मुहूर्त्त में पवनंजय और अंजना का विधि पूर्वक पाणिग्रहण

हो गया ।

अंजना को कोई गन्ध भी नहीं थी कि पवनंजय के हृदय में उसके प्रति द्वेष की भावना पैदा हो गई है । वह तो पवनंजय को पाकर अपने आपको धन्य मान रही थी ।

अंजना के हृदय में पति-मिलन की अनेक आशाएँ थी ।

पाणिग्रहण की विधि-समाप्ति के बाद महेन्द्र राजा और हृदयसुन्दरी ने अंजना को हृदय से आशीर्वाद प्रादन किये और अनेक प्रकार की हितशिक्षाएँ प्रदान कीं ।

अंजना ने पवनंजय के विमान में पैर रखा और देखते ही देखते वह विमान आकाशमार्ग से उड़ता हुए आदित्यपुर नगर में आ पहुँचा ।

चारों ओर से नूतन दम्पति का स्वागत किया गया । महाराजा-महारानी आदि सभी आनन्द में थे ।

महाराजा ने नूतन पुत्रवधु के आवास के लिए सात मंजिल का महल प्रदान किया ।

सोलह श्रृंगार सजी अंजना अपने स्वामी पवनंजय से मिलने के लिए उत्कण्ठित बनी हुई थी । परन्तु यह क्या ? पवनंजय ने तो उसी क्षण अंजना का त्याग कर दिया था ।

पवनंजय ने अंजना के महल में पैर भी नहीं रखा । रात्रि को जब पवनंजय नहीं आये तो अंजना सोच में पड़ गई । सोचा-``किसी कार्य में व्यस्त होंगे; प्रातः आकर मुझे मिलेंगे ।'' परन्तु प्रातःकाल भी बीत गया । धीरे-धीरे दिन बीतने लगे, किन्तु पवनंजय अंजना के निकट गया ही नहीं ।

सती अंजना को जब पता चला कि उसके पति ने उसका त्याग कर दिया है, तो उसे बहुत गहरा दुःख हुआ, किन्तु इस दुःख दर्द भरी अवस्था में भी उसने अपने स्वामी पर दोषारोपण नहीं किया । वह अपने ही कर्म को दोष देने लगी-``गत जन्म में मैंने कोई भयंकर पाप किया होगा, `जिसके परिणामस्वरुप मेरे स्वामी ने मेरा त्याग कर दिया है । इस त्याग में मेरे स्वामी का कोई दोष नहीं है ।'

दुःख के प्रसंग में जब हम दूसरे पर दोषारोपण करते हैं, तब हमारी पीड़ा अत्यधिक बढ़ जाती है, किन्तु दुःख के प्रसंग में स्व-पापकर्म के उदय का चिन्तन किया जाय तो इससे हमें समाधि की प्राप्ति होती है । स्वकर्म के चिन्तन से एक ओर हमें दुःख को सहन करने की शक्ति मिलती है तो दूसरी ओर अपने दुःख में निमित्त बनी जीवात्मा के प्रति द्वेष की भावना से बच जाते हैं ।

अधिकांश आत्माएँ इस तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ और अपरिचित होने के कारण दुःख के प्रसंग में अत्यन्त दीन बन जाती हैं और वे दूसरे पर दोषारोपण करती हैं, इस दोषारोपण के कारण वह पुनः नये कर्मों का अर्जन करती है, इस

प्रकार दु:ख की परम्परा चलती ही रहती है ।

3. युद्ध के लिए प्रयाण

नदी के जल प्रवाह की भाँति समय बीतता जा रहा था ।

पति के वियोग में अंजना ने सभी श्रृंगार छोड़ दिये । सुन्दर वस्त्र और अलंकारों का उसने त्याग कर दिया । पति से त्याज्य होने पर भी अंजना के हृदय में पवनंजय के प्रति लेश भी द्वेष पैदा नहीं हुआ । वह हृदय से पति को चाहती थी । वह अपना अधिकांश समय परमात्म-ध्यान, पूजन और भक्ति में ही व्यतीत करने लगी । उसे अपने दैहिक सुख की लेश भी चिन्ता नहीं थी ।

इस प्रकार पति-विरह में अंजना सती ने २२ वर्ष व्यतीत कर दिये । पूज्य **वीर विजय जी ने** गाया है-

बावीस वरस वियोगे रहेती,
पवनप्रिया सती अंजना रे,
जिनराजकूं सदा मोरी वन्दना रे ।

पवनंजय-अंजना के विवाह के २२ वर्ष बीत चुके थे ।

एक दिन महाराजा प्रह्लाद अपनी राजसभा में बैठे हुए थे, उसी समय रावण का एक दूत आया और उसने महाराजा को रावण का सन्देश सुनाते हुए कहा—

``आपको पता होगा-वरुणपुरी में वरुण राजा राज्य करता है । उसको वश करने के लिए रावण ने अपना दूत भेजा, किन्तु वरुण राजा ने उसका तिरस्कार कर दिया । इतना ही नहीं महाराजा रावण की ओर से युद्ध के लिए गये हुए खर और दूषण को भी उसने परास्त कर कैद कर लिया, अत: अब स्वयं रावण युद्ध में जाने की तैयारी कर रहे हैं । इस युद्ध में जाने के लिए आपको भी आमंत्रण है ।''

महाराजा ने दूत के आमंत्रण का स्वीकार किया । युद्धप्रयाण की तैयारी होने लगी । ज्योंही पवांजय को इस बात का पता चला, वह पिता के पास आया और बोला-,``पिताजी ! आप यहीं रहो, इस युद्ध में मैं जाऊंगा ।''

पिता ने पवनंजय को बहुत समझाया, किन्तु पवनंजय नहीं माना और वह युद्ध में जाने की तैयारी करने लगा ।

पवनंजय युद्ध के लिए प्रयाण किया । सभी ने पवनंजय का अभिवादन किया । मित्र प्रहसित साथ में ही था ।

सती अंजना को पता चला कि उसके स्वामी युद्ध में जाने की तैयारी कर रहे हैं। ``क्या पता युद्ध से कब लौटेंगे ?'' यह विचार कर उसने भी उनके दर्शन करने चाहे। पति की इस विजययात्रा में मंगल अभिवादन के लिए अंजना सती अपने महल से एकदम नीचे उतर आई और पति के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी।

इधर पवनंजय ने अंजना को देखा तो उसके हृदय में तिरस्कार की भावना जाग उठी।

पवनंजय निकट आया, अंजना उसके पैरों में गिर पड़ी और बोली...``स्वामिन्! आप मुझे भूल मत जाना...आपका यह मार्ग कल्याणकारी बने। **शिवास्तु ते पन्थानः** ।''

किन्तु अत्यन्त समर्पित अंजना का भी पवनंजय ने तिरस्कार कर दिया और वह आगे बढ़ गया।

जब व्यक्ति के पापकर्म का उदय होता है, तब मित्र भी शत्रु बन जाते हैं और जब पुण्य का उदय होता है, तब शत्रु भी मित्र बन जाते हैं।

पति के इस तिरस्कार से अंजना को बहुत दुःख हुआ। वह अपने शयन खण्ड में चली गई और जोर से पलंग पर गिर पड़ी। उसकी करुण आँखें कल्पान्त रुदन करने लगीं।

वसन्ततिलका ने कहा-``सखी ! स्वामीनाथ की इतनी निष्ठुरता ? ओहो ! कितना कठोर हृदय है उनका ?''

दोनों की आँखों में से अश्रुधारा बह रही थी।

अंजना सती ने तत्त्वज्ञान के चिन्तन से समाधि प्राप्त की।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में सुख-दुःख के प्रसंग तो आते ही रहते हैं। परन्तु सामान्यतः अधिकांश व्यक्ति सुख में लीन बन जाते हैं और दुःख आने पर अत्यन्त दीन बन जाते हैं। सुख आने पर हर्षित होते हैं और दुःख आने पर रुदन करने लग जाते हैं, परन्तु महान् आत्माएँ सुख की भाँति दुःख को भी सहजता से स्वीकार करती हैं। वे आत्माएँ न तो सुख में अत्यन्त आसक्त बनती हैं और न ही दुःख में दीन-अत्यंत बनती हैं।

सुख में आसक्ति और दुःख में रुदन, शान्ति और समाधि का मार्ग नहीं हैं। दुःख में दीन बनना कायरता का लक्षण है।

महान् आत्माएँ दुःख का भी स्वागत करती हैं। दुःख आने पर वे सोचती हैं, 'गत जन्म में मेरे द्वारा ही किये गये दुष्कर्म का यह फल है, इस दुःख का कर्त्ता मैं स्वयं ही हूँ, अतः यह दुःख मुझे ही भोगना चाहिए।'

वास्तव में, देखा जाय तो इस दुनिया में कोई भी व्यक्ति अपना मित्र अथवा शत्रु नहीं है। अपना ही पुण्योदय अथवा पापोदय किसी को मित्र और शत्रु बनने की प्रेरणा देता है। जब किसी व्यक्ति के पुण्य का उदय होता है, तब अन्य व्यक्ति उसके मित्र बन जाते हैं और जब उस व्यक्ति के पाप का उदय आता है, तब उसके वे ही मित्र शत्रु बन जाते हैं।

युद्ध-भूमि के प्रयाण समय पवनंजय ने अंजना का भयंकर तिरस्कार किया था। परन्तु जब वह मानसरोवर के किनारे अपने डेरे डाल कर रहा था, तब उसकी नजर में एक ऐसी अदभुत घटना बनी, जो अंजना के पापोदय में भी पुण्य की चिनगारी प्रगट करनेवाली बन गई।

आदित्यपुर नगर को छोड़कर पवनंजय अपने मित्र प्रहसित के साथ मानसरोवर के किनारे आ पहुँचा था। संध्या का समय था, मानसरोवर के किनारे अनेक पक्षीगण क्रीड़ा कर रहे थे।

धीरे-धीरे सूर्य अस्ताचल की ओर आगे बढ रहा था। अन्धकार की श्यामल छाया ने पृथ्वीमण्डल को घेर लिया था। पवनंजय ने देखा-एक चक्रवाकी अत्यन्त क्रन्दन कर रही है। दिन भर वह चक्रवाक के साथ मानसरोवर के शीतल जल में क्रीड़ा करती रही और ज्योंही संध्या समय चकवे का वियोग हुआ, वह फूट-फूटकर रोने लगी।

चकवी की करुण चित्कारों ने पवनंजय के कोमल हृदय को भेद दिया, वह सोचने लगा-, 'ओहो ! दिन भर इन पक्षियों का परस्पर संयोग रहा और रात्रि होते ही उनका वियोग हो गया, परन्तु यह पक्षिणी विरह की उस व्यथा को सहन नहीं कर पा रही है और कितनी व्याकुल है ?'

चकवी की इस वियोग-व्यथा ने उसे अंजना की याद दिलाई। पवनंजय विचारों में खो गया, सोचने लगा...``अहो ! उस अंजना का क्या हाल हो रहा होगा ? विवाह के पहले दिन से ही मैंने उसका त्याग और तिरस्कार कर दिया था, इतना ही नहीं युद्ध-प्रयाण के समय, उसके अभिवादन का मैंने स्वीकार नहीं किया...उस समय भी मैंने उसका घोर अपमान किया...ओहो ! उसके सुकोमल हृदय पर कितनी भयंकर चोट लगी होगी ? उसके मृदु हृदय पर मैंने वज्र का भयंकर प्रहार किया, उसका हृदय टूट-टूटकर बिखर गया होगा। नहीं...नहीं। ऐसा अधम कृत्य अब मेरे हाथों से नहीं होगा...उसके टूटते हृदय को मैं थाम लूंगा। वह तो महान् है। वह मेरे अपराध को जरुर क्षमा कर देगी, मैं अपनी भूल का पश्चात्ताप करुंगा।'

पवनंजय को विचारों में डूबे देखकर प्रहसित ने कहा-, ``पवनंजय ! किन

विचारों में खो गये हो ?''

पवनंजय बोला-,``मित्र प्रहसित ! मुझे इसी समय लौटना होगा, अपने पाप का प्रायश्चित्त करना होगा ?''

`कौनसा पाप ?''

``क्या मेरे भयंकर अपराध से तुम अपरिचित हो ? अंजना के साथ मैंने कितना घोर अन्याय किया है ? आज मुझे अपनी भूल ख्याल में आई है, उस भूल का मुझे प्रायश्चित्त करना होगा। मैं अभी अंजना के पास जाऊंगा और उसके सुकोमल हृदय को सान्त्वना दूंगा।''

प्रहसित ने पवनंजय को प्रोत्साहित किया और तत्काल वे विमान में बैठकर अंजना के महल में उतर आये।

महल के ऊपरी भाग में महल में से नीचे उतरने के बाद सर्वप्रथम प्रहसित ने अंजना के खण्ड की ओर गमन किया।

सती स्त्री अपना जीवन एक ही व्यक्ति को समर्पित करती है। वह अपने स्वामी के चरणों में दासी बनकर रहती है और यदि कोई परपुरुष उसके सामने आँख उठाकर भी देखे तो वह भयंकर रणचण्डी बनकर उसका सामना भी करती है।

अंजना के महल में एक दीपक टिमटिमा रहा था...मानों अंजना के शोक में वह भी अपनी तेजस्विता को प्रगट करने में संकोच का अनुभव कर रहा था।

अंजना पलंग पर बैठी हुई रो रही थी।

युद्ध-प्रयाण के समय स्वामी द्वारा किये गये तिरस्कार को सहन करने में वह असमर्थ बन गई थी...फिर भी रुदन के बहाने वह अपने शोक को बाहर निकाल रही थी।

तभी अंजना को किसी के आगमन की पदचाप सुनाई दी। वह सोचने लगी-``इस अंधियारी रात्रि में कौन आ रहा है ?''

तत्काल उसने वसन्ततिलका को कहा-,``अरे वसन्ता ! देख तो जरा। अंजना के आवास में आने की कौन धृष्टता कर रहा है मेरे इस महल में पवनंजय के सिवाय किसी को आने का अधिकार नहीं है। बसन्ता ! उसे तूं बाहर निकाल दे।''

प्रहसित ने ये शब्द सुने। उसने भावपूर्वक अंजना को मनोमन प्रणाम किया और सोचने लगा-``अहो ! इस महासती के हृदय में पवनंजय का कितना अधिक स्थान है !''

प्रहसित ने कहा-``हे स्वामिनि ! मैं पवनंजय का मित्र प्रहसित हूँ और

पवनंजय के आगमन की सूचना देने आया हूँ।''

प्रहसित की बात सुनकर अंजना ने कहा-``प्रहसित ! यह समय हास-परिहास का नहीं है। तुम मेरे घाव पर नमक क्यों छिड़क रहे हो ? खैर ! इसमें तुम्हारा भी कोई दोष नहीं है, मेरे ही दुष्कर्म मुझे परेशान कर रहे हैं।''

अंजना आगे कुछ बोल ही रही थी कि तत्क्षण पवनंजय अंजना के निकट आ गया।

इस प्रकार अचानक ही पवनंजय को अपने निकट देखकर अंजना के आश्चर्य का पार नहीं रहा। सोचने लगी-``यह स्वप्न है या सत्य ?''

अपने पतिदेव को सामने देखकर अंजना तत्क्षण खड़ी हो गई। उसने पतिदेव का स्वागत किया।

प्रहसित उस खण्ड से बाहर निकल गया।

पवनंजय ने कहा-,``प्रिये ! मैंने तुम्हारे प्रति घोर अन्याय किया है...मैं अपराधी हूँ...तुम मुझे क्षमा कर दो।''

अंजना ने कहा-``स्वामिन् ! आप ऐसा न करें। अपराधी मैं स्वयं हूँ, मेरे ही दुष्कर्म उदय में आये हैं-आपकी तो मैं दासी हूँ।''

रात्रि का समय व्यतीत हो रहा था।

रात्रि के अन्तिमप्रहर में पवनंजय ने कहा-,``प्रिये ! मैंने युद्ध के लिए प्रयाण किया है, अतः अभी मुझे यहाँ से जाना पड़ेगा। लंका का कार्य पूर्ण कर मैं शीघ्र ही लौट आऊंगा।''

पवनंजय ने अपने आगमन की साक्षी रुप एक अंगूठी अंजना को दे दी। अंजना ने कहा-``स्वामिन् ! आप जल्दी पधारें। आपका मार्ग निष्कंटक बने।''

और थोड़ी ही देर में पवनंजय और प्रहसित मानसरोवर के किनारे आ पहुँचे।

पवनंजय का यह मिलन, अंजना के पापोदय के बीच एक चिनगारी समान ही था। थोड़े ही क्षणों में वह चिनगारी बुझ गई।

अंजना गर्भवती बन गई। कुछ मास के बाद अंजना के देह में गर्भ के चिह्न दिखाइ देने लगे।

एक बार अचानक केतुमती ने अंजना को देख लिया। अंजना के देह में गर्भ के चिह्न देखकर वह आग-बबूला हो उठी, `अरे ! इस दुष्टा ने तो हमारे कुल को कलंकित कर दिया।'

``अरे ! यह सती नहीं, कुलटा है। आज तक मैं पवनंजय को दोषी मानती थी, परन्तु अब मुझे सत्य ख्याल आ गया है कि पवनंजय ने इसका त्याग क्यों

किया है ? हाँ ! जरूर यह पापिनी है ।''

अंजना ने पवनंजय के द्वारा दी गई अंगूठी केतुमती को बताई, किन्तु इससे केतुमती पर कोई असर नहीं हुआ, वह बोली-``मेरा पुत्र जब तेरा मुँह भी देखना नहीं चाहता है और २२-२२ वर्ष से जिसने तेरा त्याग कर दिया है, उसके आगमन की बात कैसे मानी जाय ? तूं अपने पाप को छिपाना चाहती है ।''

केतुमती के भयंकर क्रोध से अंजना को भयंकर आघात लगा । वह अपने खण्ड में चली गई और करुण रुदन करने लगी ।

केतुमती तत्काल महाराजा के पास गई । वहाँ जाकर उसने अंजना का दुश्चरित्र प्रस्तुत किया ।

महाराजा को अंजना के सतीत्व में तनिक भी सन्देह नहीं था, अतः ज्योंही केतुमती ने अंजना के दुश्चरित्र की बात कही, महाराजा प्रह्लाद ने कहा-``यह बिल्कुल असम्भव है । २२ वर्षों से अंजना अपने महल में वास कर रही है...आज तक उसके दु:शील के सन्दर्भ में एक भी बात नहीं सुनी...यह अचानक कैसे सम्भव है ?''

महाराजा ने अंजना के महल के कर्मचारीयों आदि से पूछताछ करवाई । परन्तु अंजना के सतीत्व को कलंकित करे, ऐसी कोई भी बात ज्ञात नहीं हुई । किन्तु केतुमती अत्यन्त दुराग्रही बन चुकी थी । उसने तो अंजना को असती मान ही लिया था, अतः उसने महाराजा को आग्रह किया, ``अंजना को उसके पिता के घर भेज दी जाय, अन्यथा अपना कुल कलंकित हो जाएगा, सभी प्रजाजन जानते हैं कि लग्न के साथ ही पवनंजय ने अंजना का त्याग किया है, अतः यदि वह यहाँ रहेगी तो लोक में हमारी निन्दा होगी ।''

महारानी का अत्यन्त आग्रह देखकर महाराजा ने रथिक को आज्ञा दी, ``अंजना को उसके घर छोड़ आओ ।''

तुरन्त रथिक रथ के साथ तैयार हो गया ।

अंजना को समाचार दिये गये । अंजना के हृदय में भयंकर वेदना थी । दर्द, पीड़ा व रुदन से उसकी आँखों में सूजन आ गई थी ।

...लेकिन आखिर सास व श्वसुर की आज्ञा उसे माननी पड़ी...और वसन्ततिलका दासी के साथ अंजना रथ में आरुढ़ हो गई ।

देखते ही देखते वह रथ जंगल के भीषण मार्गों को पार करते हुए आगे बढ़ने लगा ।

वन के भीषण दृश्य अंजना को भयभीत बना रहे थे ।

वनमार्गों को पार करते हुए वह रथ महेन्द्रपुर आ पहुँचा । अंजना रथ से

नीचे उतरी । वसन्ततिलका भी नीचे उतरी ।

रथिक ने कहा-``अब मैं चलता हूँ ।'' अंजना ने अपनी मूक सम्मति दे दी ।

अंजना अपनी सखी वसन्ततिलका के साथ अपने पितृ-गृह की ओर आगे बढ़ी ।

थोड़ी ही देर में अंजना राजमहल के निकट आ गई, परन्तु वहाँ भी भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया ।

प्रतिहारी ने जाकर पिता महेन्द्र राजा को अंजना के आगमन की सूचना दी और वसन्ततिलका दासी द्वारा कही गई सारी घटना सुना दी ।

महाराजा महेन्द्र के मन में भी अंजना के शील के प्रति सन्देह पैदा हो गया । वे सोचने लगा-``जब पवनंजय ने २२ वर्षों से अंजना का त्याग कर दिया है, तो वह अब गर्भवती कैसे बनी ? जरुर इसने अपना शील-भंग किया होगा । ऐसी कुलटा कन्या को अपने घर में स्थान दूंगा तो लोक में मेरी भी अपकीर्ति होगी । अतः क्यों नहीं, मैं भी इसका बहिष्कार कर दूं ?''

महाराजा ने महारानी से सलाह-मशविरा किया और वह भी महाराजा के निर्णय में सम्मत हो गई । युवराज प्रसन्नकीर्ति भी महाराजा के निर्णय में सम्मत हो गया । तत्क्षण महाराजा ने द्वारपाल को आदेश दिया, तुम जाकर उस अंजना को बाहर निकाल दो और कह दो कि तुमने पिता के कुल को कलंकित किया है, अतः महाराजा की आज्ञा है कि तुम राज्य की सीमा छोड़कर चली जाओ ।''

प्रतिहारी ने जाकर अंजना को महाराजा की आज्ञा सुना दी ।

आज्ञा सुनकर अंजना का हृदय दुःख से भर आया ।

बिना कुछ उत्तर दिये अंजना ने वहाँ से प्रयाण कर दिया ।

अंजना के लिए अब वन के निकुंजों के सिवाय अन्य कोई आश्रय स्थान नहीं था ।

अंजना, वसन्ततिलका के साथ वन की ओर आगे बढ़ी । मार्ग अत्यन्त ही विकट था । पैरों में काँटें चुभ रहे थे । भूख और प्यास भी सता रही थी । अंजना दुःख के महासागर में डूब चुकी थी ।

अंजना गर्भवती थी । चारों ओर संकट से घिरी हुई थी । शारीरिक प्रतिकूलताओं के बीच भी उसे अपने शील-रक्षण की अत्यधिक चिन्ता थी । उसने शीलरक्षण के लिए दृढ़ संकल्प किया । **'भयंकर परिस्थितियों के बीच भी मुझे अपने शील का संरक्षण करना है'** यह उसकी आत्मा की आवाज थी ।

भारत के महान् पूर्वजों के चरित्र-स्मरण के साथ ही जब भारतीय समाज की

वर्तमान परिस्थिति का विचार करते हैं, तब हृदय में अत्यन्त दुःख का अनुभव होता है।

कहाँ भारत की वे महासतियाँ !!! जिन्होंने अपने प्राणों की बलि देकर भी अपने शील का संरक्षण किया था। परन्तु अफसोस ! आज इस देश में शील का खुले आम नीलाम हो रहा है। जनसंख्या वृद्धि के नाम पर ऐसे-ऐसे साधनों का दिन-प्रतिदिन प्रचार किया जा रहा है, जिससे व्यभिचार-दुराचार को खुले आम प्रोत्साहन मिल रहा है। इस देश में गर्भपात एक भयंकर पाप गिना जाता था, परन्तु आज सरकार ही इस पाप को प्रोत्साहित कर रही है।

क्या सिरदर्द के तत्क्षण निवारण के लिए ऐसी दवा ली जाय कि जिससे एकबार सिरदर्द तो मिट जाय, किन्तु बाद में कैन्सर पैदा हो जाय ?

3. मुनि दर्शन

थकी हुई अंजना एक वृक्ष के नीचे बैठ गई। वसन्ततिलका पास ही के वृक्षों से कुछ फल तोड़कर ले आई। अंजना व वसन्ततिलका ने फलाहार किया। उसके बाद वे दोनों निकट रही गुफा की ओर आगे बढ़ीं।

उन दोनों ने गुफा में प्रवेश किया। प्रवेश करते ही उन्हें विद्याधर महामुनि के दर्शन हुए। अमितगति महामुनि उस गुफा में खड़े-खड़े कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। अंजना व वसन्ततिलका दोनों ने महामुनि को भावपूर्वक प्रणाम किया।

थोड़ी बाद वसंततिलका ने महामुनि को अंजना के जीवन की दुःखभरी कहानी सुना दी।

महामुनि ने कहा-``हमारे जीवन में जो सुख-दुःख आते हैं, उनके कर्त्ता हम स्वयं ही हैं। आत्मा ही अपने सुख-दुःख की कर्त्ता और भोक्ता है। अन्य जीव तो निमित्त मात्र होते हैं। पूर्वकृत दुष्कर्मों के उदय के कारण ही इस जीवन में दुःख आते हैं, अतः दुःख आने पर दीन नहीं बनना चाहिए।

दुःख को समतापूर्वक सहन करने से पुनः नये कर्मों का बन्ध नहीं होता है। दुःख में दीन बनने से आत्मा पुनः नये-नये कर्मों का बन्ध करती है। अतः जीवन में आये हुए दुःखों को समतापूर्वक सहन करना चाहिए...।''

महामुनि की इस मधुर धर्मदेशना को सुनकर अंजना को बल मिला।

अंजना ने कहा, ``हे महामुने ! मैंने गत जन्म में ऐसा कौनसा पाप किया, जिस कारण मुझे इस जीवन में निरन्तर आपत्तियों का सामना करना पड़ा ?''

अंजना का प्रश्न सुनकर महामुनि बोले-``इस हेतु तेरे गत जन्मों के इतिहास को जानना पड़ेगा।''

इसी भारत भूमि में कनकपुर नाम का नगर था। उस नगर में कनकरथ नाम का पराक्रमी राजा राज्य करता था। उस राजा के मुख्य दो रानियाँ थीं-कनकोदरी और लक्ष्मीवती।

लक्ष्मीवती को परमात्म-भक्ति का अद्‌भुत रस था, वह रुपवती होने के साथ-साथ गुणवान् भी थी।

महाराजा के हृदय में लक्ष्मीवती का प्रथम स्थान था।

लक्ष्मीवती ने अपने राजमहल में परमात्मा का एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया था। उस मन्दिर में परमात्मा की भव्य जिनप्रतिमा स्थापित की थी।

लक्ष्मीवती प्रतिदिन परमात्मा की अद्‌भुत भक्ति करती थी। महाराजा भी महारानी की परमात्म-भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न थे।

महारानी लक्ष्मीवती प्रतिदिन परमात्मा की भव्य अंगरचना बनाती, जिसके दर्शन के लिए सैकड़ों नर-नारी आते, सभी लोग लक्ष्मीवती के सद्‌गुणों की प्रशंसा करते।

लक्ष्मीवती की प्रशंसा चारों ओर फैल रही थी। कनकोदरी उस प्रशंसा को सहन न कर सकी, उसके हृदय में ईर्ष्या की आग पैदा हो गई।

ईर्ष्या एक अन्तरंग अग्नि है, जो व्यक्ति को भीतर ही जलाती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति अन्य के उत्कर्ष को सहन नहीं कर पाता है और इस हेतु वह किसी भी प्रकार से अपने प्रतिपक्षी व्यक्ति को गिराना चाहता है।

श्यामपट्ट (ब्लेकबोर्ड) पर खींची हुई रेखा को छोटी करने के दो उपाय हैं-

(१) उसके पास में दूसरी लम्बी रेखा खींच दी जाय अथवा (२) उस रेखा को काट दिया जाय।

ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे को नीचा करने के लिए दूसरा तरीका अपनाता है। पहले तरीके में उसे आगे बढ़ने के लिए अधिक पुरुषार्थ करना पड़ता है, जबकि दूसरे तरीके में दूसरे को नीचे गिराने का ही प्रयत्न रहता है।

कनकोदरी लक्ष्मीवती के उत्कर्ष को सहन न कर सकी।

एक बार कनकोदरी अत्यन्त उदास बैठी हुई थी। उसी समय सुलेखा दासी ने उसके कक्ष में प्रवेश किया।

दासी ने कहा-``स्वामिनि ! आज आप इतनी उदास क्यों हो ?''

कनकोदरी ने अपने हृदय की बात सुलेखा को कह दी।

कनकोदरी ने कहा-``लक्ष्मीवती की प्रसिद्धि का एक ही कारण मुझे दिखता है-वह है जिनेश्वर की प्रतिमा। यदि वह प्रतिमा हटा दी जाय तो उसकी प्रसिद्धि कम

हो सकती है।''

सुलेखा ने कहा-``महारानीजी ! आप निश्चिन्त रहिए। यह काम मैं आसानी से युक्तिपूर्वक कर लूंगी।''

सुलेखा ने कनकोदरी को अपनी योजना बता दी। कनकोदरी प्रसन्न हो गई।

दूसरे दिन से सुलेखा लक्ष्मीवती के पास आने-जाने लगी और उससे मीठी-मीठी बातें करने लगी। धीरे-धीरे वह लक्ष्मीवती के साथ पूजा-पाठ भी करने लगी।

एक दिन अवसर पाकर वह मध्याह्न समय में मन्दिर में चली गई। मन्दिर में अन्य कोई व्यक्ति नहीं था। उसने वहाँ से मूर्ति उठा ली और उसे फूलों के करंडे में ढंक दी और वह कनकोदरी के महल में आ गई।

कनकोदरी की प्रसन्नता का पार न रहा, उसे अपनी योजना साकार होते दिखाई देने लगी।

संध्या समय कनकोदरी व सुलेखा उस मूर्ति को लेकर नगर बाहर चली गई।

इधर संध्या समय ज्योंही लक्ष्मीवती ने मन्दिर में प्रवेश किया तो वहाँ परमात्मा की प्रतिमा दिखाई नहीं दी। वह भूमि पर बेहोश होकर गिर पड़ी।

चारों ओर हाहाकार मच गया। राजमहल में से लोग दौड़कर आने लगे।

लक्ष्मीवती पर जल के छींटे डाले गये, थोड़ी देर बाद वह होश में आई और परमात्मा-विरह में करूण रुदन करने लगी। चारों ओर प्रतिमा की छानबीन होने लगी, किन्तु प्रतिमा का कहीं भी पता नहीं चला।

महारानी ने प्रतिज्ञा की-,``जब तक परमात्मा की प्रतिमा नहीं मिलेगी, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी।''

महाराजा ने महारानी को प्रतिमा की शोध कराने के लिए आश्वासन दिया।

इधर कनकोदरी नगर बाहर उद्यान में चली गई। उद्यान से थोड़ी दूर पर कचरे का ढेर पड़ा था, उसने करंडे में से मूर्ति निकाली और वह कचरे के ढेर की ओर आगे बढ़ी। उसने गन्दगी के ढेर में गड्ढा खोदकर परमात्मा की प्रतिमा गाड़ दी।

प्रतिमा गाड़कर ज्योंही वह कुछ कदम आगे बढ़ी, दूर से उसे साध्वीजी महाराज आते हुए दिखाई दिये। उसके हृदय की धड़कन बढ़ गई।

चोरी करने वाला हमेशा सन्देहशील होता है। उसके मन में यह तीव्र शंका रहती है-``किसी ने मुझे देख तो नहीं लिया है ?''

कनकोदरी के मन में यह शंका पैदा हो गई कि साध्वीजी म. ने मेरे दुष्कृत्य को जान लिया है, अतः वह घबरा गई। इतनी देर में साध्वीजी महाराज निकट आ

गई ।

साध्वीजी महाराज ने कहा-``तूने यह क्या किया है ?''

कनकोदरी का हृदय भय के मारे काँप उठा । उसने सारी बात साध्वीजी महाराज को कह दी ।

साध्वीजी ने कहा-``इतना भयंकर कृत्य ! तूने यह कैसा साहस किया ? ईर्ष्या के वशीभूत होकर अपना आत्महित भी भूल गई ?''

साध्वीजी के वचन सुनकर कनकोदरी को अपनी भूल समझ में आ गई ।

कचरे के ढेर में से उसने वह प्रतिमा पुनः उठाई और सुलेखा के साथ राजमहल की ओर चल पड़ी ।

कनकोदरी शीघ्र मन्दिर में गई, वहाँ प्रतिमा को पुनः स्थापित कर लक्ष्मीवती के कक्ष में जा पहुँची और सीधी ही लक्ष्मीवती के चरणों में गिरकर फूट-फूटकर रोने लगी ।

भूल हो जाना मानव का स्वभाव है । उस भूल को स्वीकार कर लेना-मानव से महामानव बनने का मार्ग है और भूल हो जाने के बाद उस भूल को स्वीकार नहीं करना-मानव से दानव बनने का मार्ग है । अपनी भूल को स्वीकार कर लेने से और उस भूल का पश्चात्ताप करने से व्यक्ति उस भूल की सजा से बच जाता है और भूल का स्वीकार व पश्चात्ताप न करने से उस भूल का अनुबंध पड़ जाता है, उस भूल के फल का भी गुणाकार हो जाता है ।

भूल हो जाने के बाद पश्चात्ताप करना-यह भूल के फल को भागाकार करने का मार्ग है और उस भूल को स्वीकार न करना, यह उस भूल के फल को गुणाकार करने का मार्ग है ।

कनकोदरी ने लक्ष्मीवती से क्षमायाचना की और दूसरे दिन साध्वीजी महाराज के पास जाकर अपनी भूल का निवेदन किया । साध्वीजी म. ने उसे जिनधर्म में दृढ़ बनने के लिए मार्गदर्शन दिया और आचार्य भगवन्त के पास प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा ।

उसके बाद कनकोदरी धर्म में स्थिर बनी और धर्ममय जीवन बिताने लगी ।

कनकोदरी के साथ-साथ सुलेखा ने भी अपनी भूल का पश्चात्ताप किया ।

वे दोनों अपने शेष आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में गई और वहाँ से च्यवकर कनकोदरी की आत्मा अंजना बनी और सुलेखा वसन्ततिलका बनी ।

अपने पूर्वभव के चरित्र को सुनकर अंजना व वसन्ततिलका के आश्चर्य का पार न रहा ।

महामुनि ने कहा-``परमात्मा की प्रतिमा की आशातना से तुम्हारी आत्मा ने जिस दुष्कर्म का उपार्जन किया, वह अधिकांश कर्म तो प्रायश्चित्त से नष्ट हो गया था, फिर भी जो अवशिष्ट कर्म रहा, उसके फलस्वरुप तुम्हारे जीवन में ये आपत्तियाँ आई हैं।''

अंजना ने कहा-``भगवन् ! उन दुष्कर्म का उदय अब कब पूर्ण होगा ?''

भगवन् ने कहा-``अब अल्पकाल में ही तेरा वह दुष्कर्म नष्ट हो जाएगा।''

वसन्ततिलका ने कहा-``अंजना के गर्भ में जीव है, उसके बारे में कुछ...।''

महामुनि ने कहा-``अंजना के गर्भ में जो जीव है, वह महान् आत्मा है-वह विशाल राज्य का स्वामी बनेगा...और अन्त में दीक्षा अंगीकार कर मुक्ति प्राप्त करेगा।''

पुत्र की श्रेष्ठता को सुनकर अंजना के हर्ष का पार न रहा।

कुछ ही समय बाद महामुनि वहां से विहार कर गये। अंजना व वसन्ततिलका निर्भय बन गई।

दोनों उसी गुफा में आनन्द से रहने लगी। अंजनां का गर्भकाल लगभग पूर्ण हो चुका था।

5. पुत्र-जन्म व हनुपुर गमन

कुछ ही दिनों के बाद एक शुभ दिन अंजना ने एक रुपवान् और सुकुमार पुत्ररत्न को जन्म दिया। दासी वसन्ततिलका अंजना की परिचर्या कर रही थी।

सुकुमार पुत्ररत्न को प्राप्त कर अंजना अपने शोक को भूल गई।

एक दिन अंजना अपने शिशु के साथ गुफा के बाहर खेल रही थी, उस समय आकाशमार्ग से एक विमान प्रसारित हुआ। विमान में बैठे विद्याधर ने उन दोनों को देखा। उसके आश्चर्य का पार न रहा, तत्काल ही उसने अपना विमान नीचे उतारा और वह गुफा के पास आया।

अल्प परिचय के बाद ज्योंही उसे पता चला कि यह स्त्री अन्य कोई नहीं बल्कि उसकी बहन हृदयसुन्दरी की पुत्री है, तो उसके आश्चर्य का पार न रहा। अंजना भी अपने मामा विद्याधर मानसवेग को पहिचान गई।

मानसवेग ने पूछा-``तेरी यह दशा किसने की ?''

अंजना ने आदि से अंत तक की घटना सुना दी।

अंजना की दु:ख-दर्द और व्यथापूर्ण जीवन-कहानी सुनकर मानसवेग का

हृदय भी द्रवित हो गया। वह मन ही मन बोला-``एक महासती पर इतनी भयंकर आपत्ति ! सच ही है कसौटी स्वर्ण की ही होती है, कथीर की नहीं।''

मानसेवग ने कहा-``अंजना ! तेरे दु:ख की अब सीमा आ गई है...अब तू मेरे साथ घर चल।''

मानसवेग की बात सुनकर अंजना तैयार हो गई और अपने शिशु व वसन्ततिलका के साथ विमान में बैठ गई।

अंजना व वसन्ततिलका के आनन्द का पार नहीं था।

विमान तेजी से आगे बढ़ रहा था। विमान में बैठा शिशु विनोदप्रिय था। विमान की मनमोहक घुंघरियों को देखकर उन्हें पकड़ने के लिए वह उछल पडा और तत्क्षण वह विमान से नीचे गिर पड़ा।

बालक के नीचे गिरने के साथ ही अंजना का कोमल हृदय काँप उठा, तत्क्षण उसने विमान रोकने के लिए आवाज लगाई। मानसेवग ने विमान रोककर उसे धरती पर उतारा। अंजना दौड़ती हुई शिशु के समीप आई, सबने एक आश्चर्य देखा कि बालक को किसी प्रकार की चोट नहीं लगी है, बल्कि उस बालक के गिरने से पत्थर की शिला टूटकर चूर-चूर हो गई है।

अंजना ने बालक को गले लगाया। फिर सभी विमान में बैठ गये।

विमान आगे बढ़ने लगा। विमान में बैठी अंजना दूर-सुदूर के प्राकृतिक दृश्यों को निहार रही थी।

विमान हनुपुर पहुँच गया। स्वजन तथा प्रजाजनों ने मानसवेग राजा का स्वागत किया। महाराजा ने सभी को अंजना का परिचय दिया।

मानसवेग ने अंजना के आवास आदि की सुन्दर व्यवस्था कर दी।

मानसवेग ने अंजना के पुत्र का भव्य जन्म-महोत्सव किया और १२ वें दिन अपने नगर के नाम के अनुरुप ही बालक का नाम **'हनुमान'** रख दिया।

अंजना आनन्द से दिन व्यतीत कर रही थी, फिर भी पवनंजय की याद उसे अत्यन्त सता रही थी।

6. पवनंजय की युद्ध-यात्रा

अंजना को आश्वासन देकर पवनंजय अपने मित्र प्रहसित के साथ पुन: मानसरोवर के तट पर आ गया। प्रात:काल होते ही विमान मार्ग से वह लंका चला गया।

वरुणपुर के राजा वरुण के साथ युद्ध करने के लिए रावणने प्रयाण की

तैयारी कर दी थी। आसपास के क्षेत्रों से अनेक राजा-महाराजा अपने-अपने सैन्य के साथ लंका आ रहे थे।

पवनंजय ने रावण को नमस्कार किया। रावण भी पवनंजय के आगमन से प्रसन्न हो गया।

कुछ ही दिनों में रावण ने अपने विराट् सैन्य के साथ वरुणपुर की ओर प्रयाण किया।

रावण ने पवनंजय को अपना सेनापति बनाया।

पवनंजय युद्धकला में निपुण था। युद्धभूमि में उसने अपने विराट् सैन्य को देखा। वह वरुण की शक्ति को अच्छी तरह से जानता था।

पवनंजय ने सोचा-'एक छोटे से राज्य के लिए भयंकर युद्ध खेला जाएगा, जिसमें लाखों लोग मारे जायेंगें, अतः यदि शक्य हो तो बिना युद्ध के ही समाधान करने का प्रयास करना चाहिए।' सोचकर रात्रि में ही वह आकाशमार्ग से वरुण राजा के राजमहल में जा पहुँचा।

पवनंजय ने अत्यन्त ही युक्तिपूर्वक वरुण राजा को सन्धि के लिए समझाया। अन्त में वरुण राजा सन्धि के लिए तैयार हो गया।

सभी इसी कल्पना में थे कि प्रातःकाल होते ही युद्ध की भेरियाँ बज उठेंगी और दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध प्रारम्भ हो जाएगा।

परन्तु प्रातःकाल जब दोनों सेनाओं के बीच युद्धविराम के श्वेत झण्डे फहराने लगे तो दोनों सेनाओं के आश्चर्य का पार नहीं रहा।

पवनंजय के चातुर्य के कारण भयंकर युद्ध टल गया। रावण और वरुण के बीच सन्धि हो गई। वरुण ने खर और दूषण को भी मुक्त कर दिया।

पवनंजय रावण के विराट् सैन्य के साथ पुनः लंका आ गया। रावण ने पवनंजय को धन्यवाद दिया। वह रावण के आग्रह से कुछ दिनों तक लंका में रहा।

रावण के आग्रह से पवनंजय लंका में रहा तो सही, किन्तु उसका मन अंजना-मिलन के लिए उत्कण्ठित बना हुआ था, अतः किसी भी प्रकार से वह अपने नगर पहुँचना चाहता था।

एक शुभ दिन लंका से विदाई लेकर पवनंजय ने अपने नगर की ओर प्रयाण किया।

महाराजा प्रह्लाद और केतुमती को अपने पुत्र के आगमन का पता चला तो उन दोनों के हर्ष का पार नहीं रहा। राजा ने नगर में पवनंजय के आगमन की घोषणा करा दी।

सभी प्रजाजन पवनंजय के स्वागत के लिए इकट्ठे हो गए।

पवनंजय विमान से नीचे उतरा । अपने उपकारी माता-पिता को उसने प्रणाम किया । नागरिकों ने पवनंजय का जय-जयकर किया । उसकी स्वागत-यात्रा राजमहल की ओर आगे बढ़ने लगी । अन्त में स्वागत-यात्रा राजसभा में बदल हो गई ।

पवनंजय ने अपने अनुभव प्रजा को सुनाये । पवनंजय के बुद्धि-कौशल को जानकर प्रजा गद्‌गद् हो गई ।

राजसभा के विसर्जन के बाद पवनंजय अंजना के महल की ओर आगे बढ़ा । महल के द्वार पर द्वारपाल पहरा दे रहा था । पवनंजय ने महल में प्रवेश किया...किन्तु महल तो श्मशान की भांति सूना था । वहाँ न अंजना थी और न ही उसकी प्रिय सखी वसन्ततिलका ।

यह देखकर पवनंजय चौंक उठा । उसके मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ पैदा हो गई ।

पवनंजय ने द्वारपाल से पूछा-``अंजना कहाँ हैं ? महल सूना क्यों है ?''

पवनंजय के पूछने पर द्वारपाल बोला-``युवराज ! महारानीने युवराज्ञी का बहिष्कार कर दिया है ।''

``क्या कह रहे हो ? अंजना...का बहिष्कार...ओहो, यह तो घोर अन्याय हो गया है ?''

``अरे द्वारपाल ! बता तो सही, महारानी ने अंजना का बहिष्कार क्यों किया ?''

द्वारपाल ने कहा-``युवराज्ञी को गर्भवती जानकर महारानीजी के मन में, उनके शील के प्रति सन्देह पैदा हो गया और उन्होंनें एक दिन उनको उनके पिता के घर भेज दी ।''

द्वारपाल की बात सुनते ही पवनंजय का हृदय काँप उठा । ``ओहो ! निर्दोष अंजना के साथ घोर अन्याय हो गया ।''

पवनंजय सीधा महारानी केतुमती के खंड में जा पहुँचा और अत्यन्त कर्कश ध्वनि में बोला-``माँ ! माँ ! अंजना कहाँ है ? उस सती के साथ इतना भयंकर अन्याय ?''

माँ ने कहा-``बेटा ! धैर्य रख ! उस कुलटा का तूं नाम क्यों लेता है ? उसने तो अपने कुल को कलंकित कर दिया है ।''

``माँ ! माँ ! आपकी यह बात बिल्कुल झूठ है । अंजना तो एक महासती है । युद्ध में जाने के पूर्व मैं पुनः लौट आया था, क्या उसने मेरी अंगूठी नहीं बताई ?''

``बताई तो थी, किन्तु मैंने उस पर विश्वास नहीं किया ।''

``तो अब वह कहाँ होगी ?''

माँ ने कहा-``उसे यहाँ से उसके पिता के घर भिजवा दी थी ।''

पवनंजय ने कहा-``मैं तत्काल उसकी खोज के लिए जाता हूँ ।''

जब पिता प्रह्लाद को इस बात का पता चला तो वे भी दु:खी हुए ।

पिता की आज्ञा लेकर पवनंजय अपने मित्र प्रहसित के साथ महेन्द्रपुर आया ।

परन्तु अफसोस ! वहाँ पर भी उसे अंजना नहीं मिली । मिले भी कैसे ? महेन्द्र राजा ने उसका बहिष्कार करा दिया था ।

पवनंजय को यह जानकर अत्यन्त आघात लगा कि उसके माता-पिता ने भी उसका त्याग कर दिया है ।

आखिर पवनंजय मित्र प्रहसित के साथ वन की ओर चल पड़ा ।

वन की गुफाओं में वह अंजना की शोध करने लगा, किन्तु कहीं भी उसे अंजना के पद-चिन्ह दिखाई नहीं दिये ।

7. अग्नि-प्रवेश का निर्णय

अत्यन्त छानबीन के बाद भी जब अंजना का पता नहीं चला, तो पवनंजय ने मित्र प्रहसित से कहा-``तुम आदित्यपुर जाओ और मेरे माता-पिता से कहो कि चारों ओर अंजना की खोज प्रारम्भ की जाय । इसके बाद भी अंजना नहीं मिलेगी तो पवनंजय अग्नि-प्रवेश कर आत्मविलोपन कर लेगा ।''

मित्र प्रहसित ने पवनंजय को बहुत समझाया, किन्तु वह पवनंजय के संकल्प को नहीं तोड़ सका ।

प्रहसित ने आकर प्रह्लाद व केतुमती को पवनंजय का सन्देश सुना दिया ।

महाराजा प्रह्लाद अत्यन्त विह्वल हो गए । चारों ओर सैनिकों व सामन्तों को भेजकर अंजना की खोज की जाने लगी ।

पवनंजय वन के प्रत्येक खंड में अंजना की खोज कर रहा था, किन्तु कहीं भी उसे अंजना नहीं मिली । वह भूख और प्यास को भूल गया था ।

पवनंजय अत्यन्त अधीर हो गया । अन्त में, उसने एक चिता तैयार की और उसमें कूदने की तैयारी करने लगा ।

पवनंजय कूदने की तैयारी कर ही रहा था, तभी उसे प्रहसित की आवाज सुनाई दी-``रुको ! रुको पवनंजय ! जल्दबाजी मत करो ! अंजना मिल गई है ।'' अंजना के नामश्रवण के साथ ही पवनंजय चौंक उठा । वह क्षण भर के लिए रुक गया ।

इसी बीच प्रहसित निकट आ चुका था । उसने बताया-

`अंजना मिल गई है । तत्क्षण अंजना विमान से बाहर आई और पतिदेव के चरणों में गिर पड़ी । मानसवेग भी में साथ था ।

पवनंजय ने पूछा-``मित्र प्रहसित ! अंजना कहाँ मिली ?''

प्रहसित ने कहा-``तुम्हारे पिता ने अंजना की खोज के लिए चारों ओर सैनिक भेजे थे, मैंने सबको सूचना दी थी कि अंजना मिल जाय तो उसे लेकर वन में आ जाना ।''

मैं भी चारों ओर अंजना की खोज कर रहा था, अन्त में मैं हनुपुर भी पहुँचा । अंजना का नाम वहाँ लोकजिह्वा पर चढ़ा हआ था । मैंने मन ही मन सोचा-``अंजना यहाँ अवश्य मिल जाएगी ।''

``मैं राजमहल में गया, मैंने दूर से ही अंजना को एक बालक के साथ क्रीडा करते हुए देखा । मेरे आनन्द का पार न रहा । मैं जाकर उससे मिला और तेरे सम्बन्ध में सब कुछ बताया ।''

तत्क्षण मानसवेग ने दो विमान तैयार किये और सपरिवार बैठकर शीघ्रतापूर्वक यहाँ आए । अंजना के मिलने के समाचार पवनंजय और अंजना के माता-पिता को भी पहुँचा दिये गये ।

मंहेन्द्रराजा, हृदयसुन्दरी, महाराजा प्रह्लाद व केतुमती आदि सभी वहाँ आ गए । केतुमती ने अंजना को कहा-``तेरे दुःख का कारण मैं ही हूँ...मैं पापिनी हूँ ।''

अंजना ने कहा-``नहीं माताजी ! आप ऐसा न कहो । आप तो पूर्णतया निर्दोष हो । मेरे दुःख में आपका कोई दोष नहीं है । दोष मेरे ही दुष्कर्मों का है ।''

अंजना ने सबको गुरुदेव की अमृतवाणी सुनाई...अंजना के महान् सतीत्व को सभीने भाव से नमस्कार किया । सभी के चेहरों पर प्रसन्नता छा गई ।

बालक हनुमान को पाकर सभी का आनन्द बढ़ गया ।

इस प्रकार महासती अंजना के जीवन की आपत्ति दूर हो गई ।

अंजना अपने पति के साथ आदित्यपुर आ गई और सुखपूर्वक काल प्रसार करने लगी ।

एक शुभ दिन सद्गुरु के समागम को प्राप्तकर अपने पुत्र हनुमान को राजगद्दी सौंपकर पवनंजय और अंजना ने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

निर्मल चारित्र धर्म की आराधना-साधना के प्रभाव से घाती कर्मों का क्षयकर पवनंजय मुनि और अंजना साध्वी ने केवलज्ञान प्राप्त किया । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध कर दोनों ने शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

7 महासती देवकी

एक बार नेमिनाथ प्रभु विहार करते हुए द्वारिका में पधारे। उस समय देवकी के छह पुत्र मुनि, दो-दो के संघाटक के रुप में देवकी के घर क्रमशः गोचरी हेतु आए। देवकी ने प्रथम संघाटक मुनि को गोचरी बहोराई...फिर दो मुनि आए...उनको भी गोचरी बहोराई...फिर दो मुनि आए, उन मुनियों को देखकर देवकी ने सोचा, ``ये दो मुनि वापस बारबार गोचरी हेतु क्यों आते हैं ? क्या उन्हें दिशा-भ्रम हो गया है ? क्या इस नगरी में अन्यत्र भिक्षा नहीं मिलती है ?''

मुनियों ने कहा-``हमें न तो दिशाभ्रम हुआ है और न ही हम पुनःपुनः आ रहे हैं। हम छह भाई हैं, हमारी रुप-सम्पत्ति व आकृति एक समान है। भद्दिलपुर की श्राविका सुलसा के हम छह पुत्र हैं। नेमिनाथ प्रभु की देशना श्रवण कर हमने दीक्षा स्वीकार की है और छट्ठ के पारणे में हम क्रमशः दो-दो मुनि बहोरने के लिए आए हैं।''

मुनियों की बात सुनकर देवकी सोचने लगी-`अहो ! ये छह मुनि कृष्ण की आकृति जैसे ही क्यों दिखाई देते हैं ? इनमें लेश भी अन्तर नहीं है। अहो ! अतिमुक्तक मुनि ने कहा था कि तुझे आठ पुत्र होंगे। क्या ये मेरे ही तो पुत्र नहीं हैं ?' इस प्रकार विचार कर वह दूसरे दिन नेमिनाथ प्रभु के पास गई और उसने अपने दिल की बात कही।

प्रभु ने कहा-,``हे देवकी ! ये छह मुनि तुम्हारे ही पुत्र हैं। हरि नैगमेषी देव ने तुम्हारे जन्में बालक सुलसा के पास रख दिये थे।'' यह बात सुनकर देवकी के स्तनों में दूध भर आया। उसने छह मुनियों को पुनः भावपूर्वक वन्दना की और बोली, ``मेरे पुत्रत्व को प्राप्त कर, आपने दीक्षा स्वीकार की, यह मेरे लिए अत्यन्त ही आनन्द की बात है, परन्तु अफसोस है कि मैं आपको क्रीड़ा नहीं करा सकी।''

नेमिनाथ प्रभु ने देवकी को कहा-``हे देवकी ! तू खेद न कर। यह तो पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है। गत जन्म में तुमने शोक्या स्त्री के ७ रत्नों की चोरी की थी, वह जब रोने लगी तब तुमने एक रत्न वापस दे दिया था। इसी का यह फल है।'' अपने पूर्वभव को सुनकर देवकी अपने पाप का पश्चात्ताप करती हुई घर आई।

गजसुकुमाल का जन्म व दीक्षा

देवकी को उदास देखकर श्रीकृष्ण ने उसका कारण पूछा।

देवकी ने कहा-,``अफसोस है कि मैं सात-सात पुत्रों की जननी होने पर भी, एक भी पुत्र को क्रीड़ा न करा सकी। धन्य है उन पशुओं को, जो अपनी सन्तानों को प्रेम दे सकते हैं।''

श्रीकृष्ण ने कहा-``माताजी ! आप चिन्ता न करें, सब कुछ अच्छा होगा।''

श्री कृष्ण ने हरिणैगमेषी देव की आराधना की। देव ने कहा-``देवकी को पुत्र होगा, किन्तु वह युवावस्था में ही दीक्षा स्वीकार करेगा।''

कुछ समय बाद हाथी के स्वप्न से सूचित देवकी ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम गजसुकुमाल रखा गया। यौबन वय प्राप्त होने पर द्रुमक राजा की पुत्री प्रभावती और सोमशर्मा ब्राह्मण की पुत्री सोमा के साथ उसका लग्न हो गया।

नेमिनाथ प्रभु की धर्मदेशना का श्रवण कर गजसुकुमाल ने दीक्षा स्वीकार ली और वे मुनि श्मशान भूमि में जाकर कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे।

इधर सोमशर्मा ब्राह्मण ने गजसुकुमाल मुनि को कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े देखा तो उन्हें देखते ही उसको गुस्सा आ गया-``अहो ! इसने मेरी पुत्री का जीवन बर्बाद कर दिया।'' गुस्से में आकर उसने मुनि के मस्तक पर मिट्टी की पाल बनाकर, उसमें धधकते हुए अंगारे डाल दिए। अत्यन्त समताभाव में लीन बने गजसुकुमाल मुनि को केवलज्ञान पैदा हुआ। वे सर्व कर्मों से मुक्त बनकर मोक्ष में चले गए।

प्रातःकाल श्रीकृष्ण, नेमिनाथ प्रभु की वन्दना के लिए चल पड़े। उन्होंने प्रभु को पूछा-``गजसुकुमाल मुनि कहाँ हैं ?''

प्रभु ने कहा, ``वे तो मोक्ष में चले गए हैं।''

``कब-कैसे ?'' कृष्ण ने पूछा।

प्रभु ने सोमशर्मा पुरोहित के उपसर्ग की बात कही, जिसे सुनकर कृष्ण एकदम मूर्च्छित हो गए। भान में आने पर बोले, ``मुनि-हत्यारे को मैं कैसे पहचानूंगा ?''

प्रभु ने कहा, ``सोमशर्मा पर कोप करना उचित नहीं है। उसके उपसर्ग से तो गजसुकुमाल मुनि शीघ्र मोक्ष पा सके हैं...फिर भी तुम्हारे नगर-प्रवेश करते समय स्वतः मस्तक फटने से मर जाएगा, उसे मुनि-हत्यारा समझना।''

श्रीकृष्ण ने गजसुकुमाल मुनि का अग्नि-संस्कार किया। उसके बाद वे नगर में जाने लगे। श्रीकृष्ण को देखकर सोमशर्मा ब्राह्मण एकदम घबरा गया। मस्तक फट जाने से उसकी उसी समय मृत्यु हो गई। श्रीकृष्ण ने उसके शव को गिद्धों के पास रखवा दिया।

गजसुकुमाल का निर्वाण सुनकर वसुदेव के नौ भाईयों ने, शिवादेवी आदि अनेक स्त्रियों ने तथा श्रीकृष्ण के अनेक पुत्र-पुत्रियों ने दीक्षा स्वीकार कर ली। देवकी व रोहिणी को छोड़ वसुदेव की अन्य स्त्रियों ने भी दीक्षा स्वीकार कर आत्म कल्याण किया।

8 महासती सुभद्रा

वसंतपुर नगर !

जित शत्रु राजा !!

राजा अत्यंत ही नेक, ईमानदार, प्रजावत्सल और पराक्रमी था। प्रजा के सुख-दु:ख के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहता था। उस राजा का एक मंत्री था जिसका नाम था जिनदास ! अपने नाम के अनुरुप उसमें गुण भी थे। जैन धर्म के पदार्थो से वह अत्यंत ही सुपरिचित था। उसकी पत्नी का नाम तत्त्वमालिनी था। वह भी जैन धर्म में अत्यंत ही कुशल और तत्व-रसिक थी। उनके एक पुत्री थी, जिसका नाम था सुभद्रा ! सोने में सुगंध की भांति सुभद्रा में रुप व गुण का अद्‌भुत संगम था। माता-पिता के सुसंस्कारों से उसका जीवन ओतप्रोत था। यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही उसका देह सौंदर्य, चन्द्र की सोलह कलाओं की भांति एकदम खिल उठा था।

अपनी पुत्री की युवावस्था को देख पिता को उसके सुयोग्य वर की चिंता सताने लगी। मंत्री पिता की यह अभिलाषा थी कि अपनी पुत्री जिनधर्म में कुशल ऐसे योग्य व्यक्ति को दी जाय जिससे लग्न जीवन के बाद भी उसकी धर्म-आराधना सुचारु रुप से चल सके।

`एक बार चंपापुरी का निवासी बौद्ध धर्म से भावित बुद्धदास नाम का युवा व्यापारी वहां पर आया। उसने अद्‌भूत रूप और लावण्य की साक्षात् मूर्ति सुभद्रा को देखा। सुभद्रा के देखते ही उसके मन में उसके प्रति तीव्र आकर्षण भाव पैदा हो गया। उसने सुभद्रा के विषय में पूछताछ की यह कौन हैं और किसकी पुत्री हैं ?'

पूछताछ करने पर उसे पता चला कि `यह जिनदास मंत्री की पुत्री है और वह मंत्री, जिन धर्म में प्रवीण व्यक्ति को ही अपनी पुत्री प्रदान करना चाहता है।' इस बात को जानकर बुद्धदास ने निर्णय लिया कि `किसी भी उपाय से जिनधर्म में कुशलता प्राप्त करके मुझे इस कन्या के साथ अवश्य ही पाणिग्रहण करना है।'

इस प्रकार विचार कर जैन धर्म में कुशलता पाने के लिए उसने जैन धर्म संबंधी अध्ययन करना प्रारंभ किया। कुछ ही समय में उसने जैन धर्म की गहरी जानकारी प्राप्त कर ली, इतना ही नहीं वह श्रावक के बाह्य आचारों का भी अच्छी

तरह से पालन करने लगा । प्रति दिन जिन-पूजा, कंदमूल-त्याग, रात्रि-भोजन-त्याग, अभक्ष्य-भक्षण-त्याग आदि आदि बाह्य आचारों के पालन के कारण सभी लोग उसे आदर भाव से देखने लगा ।

एक बार वह बुद्धदास वसंतपुर में आया । जिनेश्वर परमात्मा की पूजा और भक्ति करके उपाश्रय में आकर गुरु भगवंत का उपदेश सुनने लगा । श्रावकोचित उसके बाह्य आचारों को देखकर जिनदास मंत्री ने बुद्धदास को अपने घर मंदिर में पधारने के लिए आमंत्रण दिया । बुद्धदास ने अत्यंत ही आडंबर पूर्वक परमात्मा की भक्ति की । उसके बाद मंत्री ने उसे भोजन के लिए आमंत्रण दिया ।

भोजन समय जब मंत्री भोजन की विविध-सामग्री पिरसने लगा, तब वह बोला, 'आज मुझे घी विगई का मूल से त्याग हैं...दही का भी मैंनें त्याग किया है ।' दो शाक से अधिक शाक नहीं लूंगा ।'

बुद्धदास के त्याग, तप व संयममय जीवन को देखकर मंत्री अत्यंत ही प्रभावित हो गया ओर मनोमन सोचने लगा, 'मैं अपनी पुत्री के लिए जैसे वर को चाहता था, वैसा वर मुझे घर बैठे मिल गया है, अतः क्यों न इसी को अपनी पुत्री प्रदान कर पुत्री के बंधन में से मुक्त हो जाऊं ।' इस प्रकार विचार कर भोजन से निपटने बाद मंत्री ने बुद्धदास के सामने अपनी कन्या ग्रहण करने के लिए प्रस्ताव रखा ।

बुद्धदास ने मंत्री का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया । एक शुभ दिन अत्यंत ही धूमधाम के साथ बुद्धदास और सुभद्रा का लग्न हो गया ।

सुभद्रा को लेकर बुद्धदास अपने घर लौटा । श्वसुर घर में आकर सुभद्रा सभी के साथ विनय पूर्वक व्यवहार करने लगी । जिनेश्वर भगवंत के मंदिर में जाकर वह परमात्मा की पूजा और भक्ति करने लगी ।

उसके इस आचार को देखकर एक दिन उसकी सास ने उसे कहा, 'यहां तो बुद्ध भगवान की ही पूजा और भक्ति करनी होगी । जैनों के मंदिर में जाने की आवश्यकता नहीं है ।'

सास के इन वचनों को सुनकर सुभद्रा ने सोचा, 'अहो ! ये तो सभी बौद्ध-धर्मी है । माया और कपट करके मेरे पति ने मेरे साथ शादी की है । अहो ! अब मैं क्या करुं ? कहाँ जाऊं ?' अब जो भी होना था, वह हो गया । परन्तु अब मुझे

किसी भी संयोग में जिन-धर्म का त्याग तो नहीं करने का है ।' इस प्रकार विचार कर वह सास के द्वारा निषेध करने पर भी जिन मंदिर में परमात्मा की पूजा और भक्ति करने लगी और गुरु भगवंत की धर्म देशना का श्रवण करने लगी । प्रतिकूल संयोगों में भी सुभद्रा अपने आचार-पालन की मर्यादा से लेश भी विचलित नहीं हुई ।

धीरें धीरें समय बीतने लगा ।

एक दिन की बात है । मासक्षमण के तपस्वी महामुनि अपने तप के पारणे में गोचरी लेने के लिए पधारे । सुभद्रा ने महामुनि की आंख में गिरे हुए तिनके को देखा । वे महामुनि तो समता के सागर थे । सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, शत्रु-मित्र आदि में समभाव को धारण करने वाले थे । अतः उन्हें आंख में गिरे तृण की कोइ परवाह नहीं थी...परन्तु सुभद्रा ने सोचा, 'यदि आंख में गिरा हुआ यह तृण दूर नहीं किया गया तो महामुनि की आंख को भयंकर नुकसान हो जाएगा ।'

इस प्रकार विचार कर उसने अपनी कोमल जीभ से महामुनि की आंख में रहे उस तृण को निकाल दिया ।

आंख में रहे तृण को निकालते समय सुभद्रा के ललाट पर रहा कुंकुम तिलक आर्द्र होने से, महामुनि के मस्तक पर लग गया ।

महामुनि के मस्तक पर कुंकुम को लगे देखकर सुभद्रा की सास ने उसके ऊपर आक्षेप लगाते हुए अपने पुत्र को कहा, 'देख, तेरी पत्नी का चरित्र ! वह तो इस साधु में आसक्त है ।'

बस, महामुनि के मस्तक पर लगे कुंकुम को देखते ही बुद्धदास ने भी अपनी माँ की बात में विश्वास कर लिया । उसी समय उसका पूरा परिवार इकट्ठा हो गया । सास ने सुभद्रा को बूरी तरह से बदनाम कर दी ।

सास ने सभी को कहा, 'यह स्वछंदचारिणी कुल्टा है ।' यह तो अपने कुल को भी कलंकित करने वाली है ।'

सास द्वारा अपने ऊपर झूठा आरोप लगाने पर वह सुभद्रा सोचने लगी, 'अहो ! मैने तो महामुनि की आंख में से तृण निकाल कर अच्छा काम किया इसके बजाय ये लोग मुझे बदनाम करने लगे है । उसी समय एक शुभ विचार उसके दिमाग में बिजली की भांति कोंध आया ।

अपने कलंक को दूर करने के लिए सुभद्रा कायोत्सर्ग ध्यान में खडी हो

गई ।

उसके अपूर्व सत्त्व को देखकर शासनदेवी प्रगट हुई और बोली, `वत्से ! कायोत्सर्ग पूर्ण करो और मेरे योग्य जो भी कार्य हो, वह कहो ।'

शासनदेवी को प्रत्यक्ष देखकर सुभद्रा ने कहा, `हे शासनदेवी ! मुझ पर आए कलंक को तुम दूर करो ।'

शासनदेवी ने कहा, `वत्से ! खेद मत करो । कल प्रातः ही तुम्हारा कलंक दूर हो जाएगा ।' इतना कहकर वह देवी अदृश्य हो गई ।

प्रातःकाल हुआ और नगर के चारों दिशाओं के चारों द्वार बंद हो गए । पुनः पुनः प्रयत्न करने पर भी वे द्वार खुल नहीं पाए । राजा ने शांति कर्म कराया...फिर भी वे दरवाजें नहीं खुले । राजा व प्रजाजन परेशान हो गए ।

आखिर, आकाश में रही शासनदेवी ने कहा, `जो सती स्त्री चालनी से कुँए में से जल निकाल कर, इन दरवाजों पर जल का छंटकाव करेगी, तभी ये द्वार खुल पाएंगें ।'

देवी की इस बात को सुनकर राजा ने नगर में पटह बजवाया, `जो सती स्त्री कुँए में से चालनी में जल लाकर इन दरवाजों पर छंटकाव करेगी तभी ये द्वार खुलेगें, राजा की ओर से उस स्त्री का बहुमान किया जाएगा ।'

राजा के द्वारा बजाए गए इस पटह को सुनकर नगर की अनेक स्त्रियाँ कुँए में से चालनी में जल बाहर निकालने लगी...परन्तु कोई भी स्त्री उसमें सफल नहीं हो पाई । राजा की चिंता बढने लगी ।

इस बीच सुभद्रा ने अपनी सास को कहा, `माताजी ! आपकी अनुमति हो तो मैं नगर के दरवाजें खोल दूं ।'

सास ने कहा, `आगे तो तूंने कुल को कलंकित किया है और अब...।'

`माताजी ! आप निश्चिंत रहे । मुझे आत्मविश्वास है कि मैं नगर के द्वार खोल सकूंगी ।'

आखिर सास ने सुभद्रा को अनुमति दी ।

सैकडों लोग़ो की उपस्थिति में सुभद्रा ने चालनी से कुँए में से जल बाहर निकाला और नगर के तीन दरवाजों पर जल का छंटकाव किया और तत्काल वे

दरवाजें खुल गए ।

उस समय शासनदेवी ने आकाशवाणी की-`यदि कोई सुभद्रा की तरह सती स्त्री हो तो वह चोथा दरवाजा खोल दे ।' परन्तु किसी के प्रयत्न से वह दरवाजा नहीं खुल पाया ।

आखिर सुभद्रा के जल छंटकाव से ही वह चोथा दरवाजा खुला ।

शासनदेवी ने कहा, `जो भी इस महासती के विरुद्ध विचार भी करेगा तो उसे कडी सजा होगी ।'

देवी के इन वचनों को सुनकर सुभद्रा के प्रति रही सभी की शंकाएँ दूर हो गई और सर्वत्र उसके सतीत्व की भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी । सास व श्वसुर ने सुभद्रा से क्षमा याचना की । सभी ने जैन धर्म का स्वीकार किया । अंत में दीक्षा लेकर सभी कर्मों का क्षय कर सुभद्रा सती मोक्ष में गई ।

शत्रु मित्र

You are yourself your enemy and you yourself are your friend.

तुम ही तुम्हारे मित्र हो, तुम्ह ही तुम्हारे शत्रु हो ।

जब तुम अपने मन में शुभ विचार करते हो, अपनी वाणी द्वारा हित मित एवं पथ्य वचन का उच्चार करते हो और अपनी काया द्वारा स्व-पर की हितकारी प्रवृत्ति करते हो, तब तुम ही तुम्हारे सच्चे मित्र हो और जब तुम अपने मन में दूसरों की बुराई का विचार करते हो, अपनी वाणी द्वारा किसी को कटु अप्रिय और अहितकर वचन बोलते हो और अपनी काया द्वारा स्व- पर का अहित हो ऐसी प्रवृत्ति करते हो, तब तुम ही तुम्हारे दुश्मन बन जाते हो ।

यदि तुम अपनें मन-वचन और काया को अशुभ में जोडे रखोगे तो दुनिया में तुम्हारे लाख मित्र होने पर भी वे तुम्हारा भला नहीं कर सकेंगें और यदि तुम अपनें मन-वचन और काया को शुभ प्रवृत्ति के साथ जुडे रखोगे तो दुनिया में तुम्हारे लाख दुश्मन होने पर भी वे तुम्हारा बाल भी बांका नहीं कर सकेंगे । भाग्यशालियों ! मित्र को बाहर कहां ढूंढ रहे हो, तुम ही तुम्हारे मित्र बन सकते हो और तुम ही तुम्हारे शत्रु बन सकते हो ।

मित्र बढाने है तो अपने मन-वचन और काया को शुभ प्रवृत्ति में जोडो ।

पू. गणिवर्य श्री रत्नसेन विजयजी म. सा. का हिन्दी साहित्य

1.	वात्सल्य के महासागर	अप्राप्य
2.	सामायिक सूत्र विवेचना	''
3.	चैत्यवन्दन सूत्र विवेचना	''
4.	आलोचना सूत्र विवेचना	''
5.	श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र विवेचना	''
6.	कर्मन की गत न्यारी	35.00
7.	आनन्दघन चौवीसी विवेचना	अप्राप्य
8.	मानवता तब महक उठेगी	''
9.	मानवता के दीप जलाएं	''
10.	जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है	''
11.	चेतन ! मोहनींद अब त्यागो	''
12.	युवानो ! जागो	''
13.	शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना भाग-1	''
14.	शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना भाग-2	''
15.	रिमझिम रिमझिम अमृत बरसे	''
16.	मृत्यु की मंगल यात्रा	''
17.	जीवन की मंगल यात्रा	''
18.	महाभारत और हमारी संस्कृति-1	''
19.	महाभारत और हमारी संस्कृति-2	''
20.	तब चमक उठेगी युवा पीढी	''
21.	The Light of Humanity	''
22.	अंखियाँ प्रभुदर्शन की प्यासी	''
23.	युवा चेतना विशेषांक	''
24.	तब आंसू भी मोती बन जाते है	''
25.	शीतल नहीं छाया रे...(गुजराती)	''
26.	युवा संदेश	''
27.	रामायण में संस्कृति का अमर सन्देश-1	''
28.	रामायण में संस्कृति का अमर सन्देश-2	''
29.	श्रावक जीवन-दर्शन	''
30.	जीवन निर्माण विशेषांक	''
31.	The Message for the Youth	''
32.	यौवन-सुरक्षा विशेषांक	''
33.	आनन्द की शोध	''
34.	आग और पानी (समरादित्य चरित्र) भाग-1	''
35.	आग और पानी (समरादित्य चरित्र) भाग-2	''
36.	गिरिराज यात्रा	''
37.	सवाल आपके जवाब हमारे	''
38.	जैन विज्ञान	
	ादित्य चरित्र) भाग-1	''
39.	आहार विज्ञान	
	रादित्य चरित्र) भाग-2	''
40.	How to live tr	''
41.	भक्ति से मुक्ति (	''
42.	आओ ! प्रतिक्रम ाब हमारे	''
43.	प्रिय कहानियाँ ादित्य चरित्र) भाग-1	''
44.	अध्यात्मयोगी पूज्य ुदित्य चरित्र) भाग-2	''
45.	आओ ! श्रावक बने	''
46.	गौतमस्वामी-जंबुस्वामी	''
47.	जैनाचार विशेषांक	''
48.	हंस श्राद्ध व्रत दीपिका	अप्राप्य
49.	कर्म को नहीं शर्म	''
50.	मनोहर कहानियाँ	''
51.	मृत्यु-महोत्सव	''
52.	Chaitya-Vandan Sootra	''
53.	सफलता की सीढ़ियाँ	''
54.	श्रमणाचार विशेषांक	''
55.	देववंदन तपमाला	25.00
56.	नवपद प्रवचन	अप्राप्य
57.	ऐतिहासिक कहानियाँ	''
58.	तेजस्वी सितारें	''
59.	सन्नारी विशेषांक	''
60.	मिच्छामि दुक्कडम्	''
61.	Panch Pratikraman sootra	25.00
62.	जीवन ने तुं जीवी जाण (गुजराती)	अप्राप्य
63.	आवो ! वार्ता कहुं (गुजराती)	''
64.	अमृत की बुंदे	''
65.	श्रीपाल मयणा	''
66.	शंका और समाधान (द्वि.आ.)	''
67.	प्रवचनधारा	''
68.	धरती तीरथ'री	''
69.	क्षमापना	''
70.	भगवान महावीर	''
71.	आओ ! पौषध करें	''
72.	प्रवचन मोती	''
73.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	''
74.	श्रावक कर्तव्य-1	''
75.	श्रावक कर्तव्य-2	''
76.	कर्म नचाए नाच	''
77.	माता-पिता	''
78.	प्रवचन रत्न	''
79.	आओ ! तत्वज्ञान सीखें	''
80.	क्रोध आबाद तो जीवन बरबाद	''
81.	जिनशासन के ज्योतिर्धर	''
82.	आहार : क्यों और कैसे ?	''
83.	महावीर प्रभु का सचित्र जीवन	50.00
	पूजन सुख संपदा	अप्राप्य
80.	क्रोध ावक	35.00
81.	जिनशास योतिर्धर	अप्राप्य
82.	आहार नर-सदा सुखी	30.00
83.	महावीर पूजा पढाएँ !	35.00
	पूजन गौरव गाथा	35.00
80.	क्रोध ावक	25.00
81.	जिनशास योति नियाँ	25.00
82.	आहार नर	
92.	महावीर लांचे उपकार	30.00
93.	महासतियों का जीवन संदेश	30.00
94.	श्रीमद् आनंदघनजी पद विवेचन	प्रेसमें